Not to be printed

हर पल
अपनी पहचान

लेखक

विष्वक्सेनाचार्य

सत्सम्प्रदाय प्रकाशन, वृन्दावन

अवतारिका

हम अपने को उतना अच्छा नहीं जानते जितने अच्छे हैं, यह अपने प्रति और विश्व के नियन्ता के प्रति एक घोर अपराध है जिसके अनियमित दण्ड हम अनादि काल से भोगते आ रहे हैं, जब कि जान लेना और सदा जानते रहना बहुत आसान है एवम् अन्यथा जानना और अन्यथा दायित्व ढोना एक गधे के लाचारी में भार ढोने जैसा केवल क्लेश है। अनादि कर्मबन्धन हमें गलत भावनाओं से लपेटते रहते हैं और उन भावनाओं के प्रति हम अपने को स्वतन्त्र मानते हैं,यानी स्वयम् अर्जित मानते हैं, यह हमारी बड़ी विडम्बना है। जैसे छोटी मोटी चोरी बचपन में सभी करते हैं पर उम्र बढ़ने पर एक नागरिक दायित्व का भाव आता है तब हम उस क्षुद्रता से स्वयम् मुह मोड़ लेते हैं, यह अन्तर स्वरूप बोध की कमी वेशी से होता है। हमारा शील स्वरूप बोध पर ही निर्भर होता है।

अपना स्वरूप हमें कुछ संग्रह, कुछ परिग्रह, कुछ त्याग, कुछ उपेक्षाओं से जुड़ा ही मिलता है। निर्विशेष, निरपेक्ष, निराकार ज्ञानानन्दमय स्वरूप का बोध अति दुर्लभ होता है। वैसा बोध हम नहीं चाहते, शायद दुःखों से जूझते रहना ही हम चाहते हैं, इससे सृष्टि के आरम्भ से ही मानव नाना शीलों में बंटा है। शुरू में समता की कल्पना अज्ञान से होती है किन्तु स्वरूप की नित्य एकरूपता नाना तर्क प्रमाणों से सिद्ध है। हम क्या करें, अज्ञानपथ पर चलें या तर्क प्रमाणपारावारपारीण किसी महान् ज्ञानी के इशारों पर चलें। इस प्रश्न पर दूसरे पक्ष का ही समर्थन सारे अपराधीजन भी अपनी आत्मा की आवाज पर करेंगे। यदि सचमुच ऐसा है तो विश्व के हर व्यक्ति को अपनी आवाज स्वयं सुनते रहने और गौर करते रहने की आवश्यकता है और इस निबन्ध का समग्र परिशीलन और विवरणों में व्यस्त रहना अनिवार्य है। इसीसे तो यह निबन्ध–

सज्जनों के कर कमल में, भ्रमर बन निज धुन बढ़ाता,
सुमन सारे मन सुधारें, विश्व का यह गीत गाता।
अस्त्र शस्त्रों की जरूरत, जड़ों को ही हो रही है,
किन्तु कलियाँ खुशबुओं से, विषमतायें खो रही हैं।

❀ ❀ ❀

अनुबन्ध चतुष्ट्य

विषय– अहंकार

अधिकार– अभ्युदय की इच्छा

सम्बन्ध– प्रमाण, स्वानुभव, शास्त्र

प्रयोजन– सारी इच्छाओं की पूर्ति

अहंकार एक ऐसा दुरूह विषय है कि सृष्टि के शुरू से ही यह ब्रह्मा रूद्र आदि के लिये भी अबूझ पहेली बना रहा है जिससे उनके जीवन के लिये भी बड़े–बड़े खतरे आते रहे। यह जो भारत कटकर पाकिस्तान बना है और वहाँ भी बड़ों की मौत के प्रोग्राम जारी रहते हैं, सारे विश्व में जितने भी संघर्ष और मृत्यु हो रहे हैं, हुए और होने वाले हैं वे सारे ही अनबूझ अहंकार प्रेत की लीलायें हैं। इसे समझना जितना मुश्किल है उतना ही आवश्यक भी है। यह कोई व्याकरण या गणित नहीं है कि कोई छात्र कठिन मानकर छोड़ दे और उसके अज्ञान से होती हानियाँ सह लें। यह अहंकार तो प्राणी की प्रत्येक गतिविधि में हेतु होता है। इसे समझकर ही कोई अपने खतरों से बचता है और बड़ी से बड़ी सिद्धियाँ पाता है। स्वयं को समझना और अहंकार समझना एक ही है ऐसा हम कह सकते हैं पर दोनों में भेद भी है ही।

दूसरों के अहंकार हम जल्दी समझते हैं जबकि अपना भूले रहते हैं। दो सैनिक लड़ते हुए प्रतिद्वन्द्वी को ही ज्यादा समझते और सफल–विफल होते हैं, स्वयं को कम ही समझ पाते हैं। अपना बचाव करने भर अपनी समझ रखते ही हैं। आत्मा सारे विश्व का एक ही है, अहंकार नाना अलगाव लाता है। पुराने कर्म अहम् में बदलाव लाते रहते हैं। पुराने कर्म ही बाहरी भीतरी परिस्थितियाँ बदलते और चेतन की चेष्टायें बदलते रहते हैं। अहम् के सारे भेद प्राचीन कर्मों के ही भेद से होते हैं। इसे जो समझेगा

वह योगियों की वह सिद्धियाँ पा जायेगा जो चिरसाधनाओं से उन्हें मिलती हैं। साथ ही वह अपने जीवन में ज्यादा ही शान्त रहेगा। संसार बन्धन उसका ज्यादा ही शिथिल रहेगा, वही जल्दी मुक्ति भी पा सकता है। समझ बढ़ने पर मुक्त होगा ही, बान्धने वाले कर्म धरे ही रह जायेंगे।

इसे समझने का अधिकार हर मानव को तुल्य है। अवश्य ही प्रमाद इस पर मोटा पर्दा बना रहता है। जो नेता चुनाव में विजयी होता है वह स्वपर अहंकारों को ज्यादा समझ चुका होता है ऐसा समझना चाहिये। जो जीवन में पीछे ही रह जाता है उसमें प्रमाद ज्यादा रहता है ऐसा समझना चाहिये। पुराने पाप प्रमाद पालते हैं, बुद्धि स्थूल रखते हैं।

बौद्ध पण्डित और मायावादी पण्डित इसे समझने में बहुत पीछे रहे हैं जबकि श्री वैष्णव आचार्य हजार वर्षों से इसे ज्यादा ही समझते आये हैं। दोनों के घरों में इस पर बहुत ग्रन्थ पुराने पड़े रखे मिलेंगे। पिछले सन् 1963 से लगभग दस बारह साल तक स्वामी करपात्री जी और त्रिदण्डी स्वामी विष्वक्सेनाचार्य के बीच इस पर लिखित शास्त्रार्थ चला था जिसमें त्रिदण्डी स्वामी की ओर से प्रस्तुत "अहमर्थ विवेक समीक्षाः एक भ्रान्ति" नामक डेढ़ हजार पृष्ठों का प्रौढ़ ग्रन्थ प्रकाश में आया था। जनसामान्य में और विपक्षियों के हृदय में भी इस अहम् पर सदाचार्य श्रीवैष्णव पक्ष का चिन्तन निर्दोष और जीवनोपयोगी सिद्ध हो चुका है। प्रस्तुत निबन्ध इस विषय पर सरल सुबोध संक्षिप्त और विशद भी प्रस्तुति है।

जिन्हें जानना हो स्वयं को जरा भी,
स्वयम् पर स्वयं सोच चाहें खरा भी।
वही धार तलवार की चूम सकते,
मजे में वही हर कदम झूम सकते।।

मुझे इस बात का खेद नहीं है कि इस विषय को और सुबोध एवं समग्र नहीं बना पाया। समग्रता चिन्तन से ही आती है। अच्छे पाठक जटिल को भी विशद बना लेते हैं। हम स्वयं को समझ लें इसी के लिये तो विधाता ने यह संसार रचा है।

उनकी करुणा हम पर बरसे, खुशी हमारी से जग तरसे।
अक्षर इसके रहें सहायक, विजयी रहें नित्य जगनायक।।

❁ ❁ ❁

भाग- 1

अहंकार : एक नित्य विमर्शनीय तत्त्व

विज्ञान से हर कहीं, हम खो रहे हैं,
अज्ञान दुःख हम से, मिल सो रहे हैं।
आभा स्वयं निकट ही, मुसका रही है,
प्रज्ञा कभी न हटती बतला रही है।
आनन्द में हम रहें, अपराध छोड़े, जागें स्वयं वितथ दुःख, न आप जोड़ें।
जो दुःख वारण करें, वह कर्म ले लें, भूलें कभी न निज को, जड़ दुःख झेलें।।

हमारे चिन्तनों का भला बुरा प्रभाव पहले हम पर ही पड़ता है, बाद में वातावरण पर पड़ता है। इसके बाद समाज पर पड़ता है, वह प्रभाव कुछ देर बाद भले बुरे कर्मों के रूप में सामने आता है। हम पहले खुद को सुधारें तब समाज आप सुधर जायेगा ऐसा सभी जानते और बोलते हैं किन्तु सुधार की शुरुआत कहां से होगी इसमे सौ मत भेद हैं। देश की वर्तमान शिक्षा मतभेदों को समझने में बिल्कुल ना काम है। शिक्षा की शिथिलता से ही बुराइयाँ फैलती हैं। आज के युग में रिश्वत बटोरना ही शिक्षा का अच्छा फल माना जा रहा है। जो लोग रिश्वत बटोर रहे हैं, बटोरने को बाध्य किये जा रहे हैं या चाहकर भी ठीक बटोर नहीं पा रहे हैं उनके लिये यह लेख नहीं है। किसी भी अनैतिक कार्य में जानबूझ कर लिप्त लोगों की इधर रुचि नहीं होगी।

इधर वे आयेंगे जो आत्मकल्याण की सही दिशा ढूंढ़ रहे हों एवं सभी सम्प्रदायों मजहबों में कुछ-कुछ अच्छा पा रहे हों। वे इधर कभी नहीं आयेंगे जिन्हें सब ओर बुराई दीखा करती है। वे इधर तेजी से आयेंगे जो अपनी सर्वोत्तम मनःस्थिति कायम करना चाहते हों एवं मन के वृथा

भट्काव मिटाना चाहते हों। वे किसी भी सम्प्रदाय या मजहब के हो सकते हैं, शिक्षा का उनका कोई भी स्तर हो सकता है। उन्हें भी इधर प्रकाश मिलेगा, शान्ति मिलेगी, अच्छी प्रेरणा मिलेगी जो कभी–कभी आत्महत्या करना सोचते हैं। उन्हें भी इधर अच्छी सन्तुष्टि मिलेगी जो स्वयं को सर्वोत्तम भावना का धनी बनाना चाह रहे हों। वे सब से जल्दी इधर आयेंगे जो जान चुके हों कि ज्यादा धन मानव को बिगाड़ता ही है, बनाता कभी नहीं। इधर आने के लिये पहली शिक्षा है कि धन मानव का मुख्य लक्ष्य हो ही नहीं सकता। मुख्य लक्ष्य तो शुरु से आज तक आत्मदर्शन ही है। आत्मविस्मृति धन को प्रधानता देती है। आत्मविस्मृति मानव का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। फिर भी यह विस्मृति अनादि काल से ज्यादा ही फैली है।

यह आत्मविस्मृति मानव की पहली आवश्यकता भी मानी जा सकती है, इसके बिना कोई लौकिक कर्म नहीं होता। आत्मा के शुद्ध रूप का निर्णय सारे कर्मों को रोकता है। यही नैष्कर्म्य कहा जाता है। पूर्व कर्मों के प्रभावों से अछूता रहना भी एक नैष्कर्म्य है। वह मोक्ष की पूर्व अवस्था होती है। दोनों नैष्कर्म्य समकालिक हो सकते हैं किन्तु जीवनकाल सक्रिय ही रहेगा, उससे अज्ञान कैसे समाप्त हो सकता है ? यह प्रश्न है। उत्तर है कि कोई रोगी रोग के समय आरोग्य की कल्पना कर सकता है किन्तु आरोग्य तो उसे चिकित्सा पूरी होने पर ही मिलेगा। कल्पित आरोग्य उसे चिकित्सा में लगाता है ऐसे ही शरीर के धर्म जाति गुणशील वय और अवस्था का स्वयं आत्मा में आरोप सारे शुभ अशुभ कर्म कराता है। प्राचीन कर्म आत्मा को प्रकृति के परिणामों से जोड़ते है। तब संसर्ग के कारण प्राकृतिक परिणामों के गुण धर्मों का आरोप शुद्ध आत्मा में होता है। तब कुछ–कुछ पुरुषार्थ या स्वार्थ भूमि, भवन, वाहन, मित्र, आय, आरोग्य आदि चाहे जाते हैं। शुद्ध आत्मा को यह सब कुछ नहीं चाहिये। सारी इच्छायें शरीर सम्बन्ध से ही होती हैं। इच्छाओं की पूर्ति होने से एक सन्तुष्टि होती है, वह सन्तुष्टि जितनी पुरानी होती है उतना वह एक नशा का रूप लेती है, उसे संस्कृत में मद कहते हैं। जैसे ताड़ का रस ताड़ी देर तक रहने से नशा बन जाता है। वह मद दूसरों को अपने से छोटा दिखलाता है, तब वही मान कहा जाता है। तब आदमी मानी या घमण्डी कहा जाता है। तब वह किसी भी बड़े का बड़प्पन मानना नहीं चाहता। बल्कि वह बड़ों को कुचलना चाहता है। वह सोच नहीं पाता कि लौकिक

कोई भी सम्पदा शरीर से ही जुट सकती है, आत्मा से कभी नहीं। शरीर से भी जो सम्बन्ध होता है वह केवल काल्पनिक होता है, वास्तव नहीं। रुपया देकर हम गाड़ी खरीदते हैं। उसे अपना मान लेते हैं। उसका उपयोग या उपभोग करने की हमें केवल कल्पना होती है। भविष्य में उपयोग की कोई सीमा हमें ज्ञात नहीं रहती। उपयोग भी एक धोखे से अधिक कुछ नहीं होता। उपयोग शरीर के लिये शरीर के द्वारा माना जाता है। आत्मा से उसका सही कोई वास्ता नहीं हो पाता। शरीर भी हर क्षण बदलता रहता है। जिस शरीर के लिये गाड़ी खरीदी जाती है वह खरीद के कुछ ही बाद खत्म हो जाता है और वैसा ही दूसरा वहां मिलता है। यह बात कम समझ में आती है पर है सच्ची। जो सन्तुष्टि शुरु में होती है, वह उत्तरोत्तर घटती है। तब मद क्यों आगे घना होता है, शायद उपयोग बढ़ने से। फिर भी मद जितना जल्दी और जितना ज्यादा होता है उतना ही मानव का मानसिक स्तर कम रहता है।

मानसिक स्तर

मानसिक स्तरों में अन्तर पशु–पक्षी भी जानते हैं। वे भी मनुष्यों को दयावान् प्रेमी या हत्यारे व्याध के रूप में जानते पहचानते हैं। उनसे मिलते हैं या दूर भागते हैं। वे भी दो मनुष्यों में भेद करते है, आस्तिक नास्तिक मुसलमान या काफिर मानते हैं। दो मनुष्यों में एकता पुरानी बात और भेद असल समझते हैं। यह भेद मन की बनावट से ही होता है। दो अलग–अलग मन कभी मिलता भी है, तब एकता और मित्रता हो जाती है। बहुत दिन लड़कर लोग दोस्ती भी कर लेते हैं। दोस्ती मिटाकर लड़ाई भी ठान लेते हैं। इससे सवाल होता है कि एकता असल है या भेद असल है। मानव का स्वभाव है कि वह बदलाव पसन्द नहीं करता, एकता ही चाहता है, अवश्य ही उस एकता का निरूपण ठीक से हो नहीं पाता। फिर मानव बदलाव के लिये ही सक्रिय पाया जाता है। नास्तिक को आस्तिक और काफिर को मुसलमान बनाने की कोशिश देखी जाती है। उल्टा भी पाया जाता है, नास्तिकता या काफिरी ही असली मानी जाती है, बल्कि नास्तिकता ज्यादा ही अच्छी समझी जाती है, त्याग और वैराग्य की पूर्ति उसी में है। फिर भी हमारा कमजोर दिल आस्तिक बनकर जीना पसन्द करता है। एक सहारा उसे जरूर चाहिये, उस सहारा को इनसान ने

खूब सजाया सवाँरा लेकिन कहता भी गया कि तुम को हम समझ ही कैसे पायेंगे, हम तो मन से बन्धे हैं। हमारा मन सच्चाई और अच्छाई को ढकने वाला है, वह मन हम सच्चे अच्छे को समझने में क्या सहायता कर सकता है। फिर भीतर से आवाज आती है कि मन को शुद्ध कर लिया जाये, लेकिन वह शुद्ध होता भी कहां है। बिना नमक मसाले का भोजन कहां चाहता है, बहुत लोग चाहते हैं, तो क्या उनका मन शुद्ध हो जाता है, साकार छोड़ निराकार में भक्ति हो जाती है ? सारी दुनियां में एक भगवान् मिल जाते हैं ? फिर आकारों को झुठलाना या पूजना दो सवाल सामने आते हैं। पक्के नास्तिक झुठलाते हैं कमजोर दिल वाले भक्त पूजते हैं। इनके बीच जेहादी कहां होते हैं यह पता लगाना पड़ता है, भक्त प्रहलाद ने जेहाद किया था, इसी से उस के बाप ने उसे जान से मारने के सैकड़ों उपाय किये थे। बाप इस्लामी जेहाद पसन्द करता था। आज भी सवाल जारी है कि प्रहलाद और उसके बाप की कहानी सही हो या गढ़ी हो पर यह प्रश्न तो रहेगा ही कि इस्लामी जेहाद ठीक है या प्रहलादी। इस्लामी जेहाद रावण और कंस ने भी चलाये थे। अगर हम यह सब कथायें झूठ मान लें और मुहम्मद गोरी की हिस्ट्री को सही मानते हुए पृथ्वीराज चौहान की आंखे निकालने की एवं गुरुगोविन्द सिंह के बच्चों को दीवाल में चुनने की कहानी को सही मानें और सही जेहाद का नमूना यही सब मान लें तब भी मुसलमानों को यह समझना बाकी रह जाता है कि अल्लाह वाली रहम इनसान में क्यों नहीं होती। अगर कहें कि रहम सिर्फ मुसलमान पर होती है, काफिर पर गाय पर और मुर्गे पर नहीं होती तो भी ईमान को मुसल्लम ठहराने की मशीन नहीं बन पायी है, मुसलमान सिर्फ दाढ़ी से पहचाना नहीं जा सकता, धोखा मुहम्म्द साहब को भी हुआ ही है, वे कयामत के टाइम में अपने दामाद अली को दोजख में ही डालना चाहेंगे,

यह उन्हें बुरा भी लगेगा, अपना दामाद दोजख में क्यों जाये। नही एक मुसलमान के लिये बाप का भी नाता कोई माने नहीं रखता, अली को दोजख में गिरना ही पड़ेगा उसके पीछे चलने वाले सब दोजख मे गिरेंगे और कभी भी वहां से नहीं निकल पायेंगे। बहुत अच्छा, अल्लाह अगर रहमान और रहीम है तो अली को थोड़ी सजा आज तक मिल चुकी होगी इससे आगे उसे दोजख में गिरने नहीं देगा या गिराकर भी दो जख से

जरूर निकाल लेगा और ईमान मुसल्लम मानकर या बनाकर जन्नत में ही डालेगा।

फिर भी ऐसे अल्लाह के लिये भी सिजदा करने का कोई तुक नहीं है, पूरा कुरआन पढ़ने पर भी वह एक इनसान से ज्यादा समझ में नहीं आ रहा, उसमे बहुत बड़ी कमी मिल रही है, अभी भी एक दूसरा कुरआन गढ़ने की जरूरत हैं। इस कुरआन वाले अल्लाह की कमी बतलाने वाली बहुत सी अच्छी और पुरानी किताब भारत में मौजूद हैं, उनके सम्प्रदाय भी हैं, उन सम्प्रदायों पर चल रहे कई करोड़ भारतीय वह कमियां जानते समझते और समझाने में सक्षम भी हैं। दिल्ली के मुसलमान जानते हैं कि कुरान के लगभग दर्जनों आयतें इनसानियत के लेहाज से निकाल देने लायक हैं, वे सब इनसान पर घृणा और वैर बढ़ाने वाली हैं। ठीक से पढ़ने पर भी उन आयतों का दूसरा कोई मतलब नहीं निकल सकता। यह फैसला दिल्ली के मेट्रो पोलिटिन मजिस्ट्रेट को तब करना पड़ा जब वहां के मुसलमानों ने कुरान के खिलाफ लिखने पर दो हिन्दुओं पर केस दायर किया। मजिस्ट्रेट का मानना था कि अपना सही विचार जाहिर करने के अधिकार से किसी को वंचित नहीं किया जा सकता। अच्छा हो कि दुनियाँ के कुछ समझदार मुसलमान किसी ऊँचे न्यायमूर्ति की तरह तटस्थ भाव से हर आयत पर नया गौर फरमायें और उन आयतों का दार्शनिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और शिष्टाचार इन पांच वर्गों में विभाजन कर लें। फिर यह गौर करें कि आज तक हमने किस विभाग को ज्यादा तरजीह दी है। उन्हें यह भी समझ कर निर्णय लिखना चाहिये कि क्यों आज तक किसी भी आयत की व्याख्या अरबी, फारसी, उर्दू, इंग्लिश, फ्रेंच, हिन्दी में से किसी में भी नहीं लिखी गयी। मुसलमान जानते हैं कि किस–किस मौके पर कौन–कौन आयत पढ़ी जाती है लेकिन उन–उन मौकों से जोड़ने का फैसला कितने लोगों ने किस–किस आधार पर कब किया और वह आगे भी बदल सकता है या नहीं, यह भी समझ कर फैसला कर लेना चाहिये। कुरआन का संस्कृत पद्यानुवाद छपा है, वह तो श्रद्धालुओं के लिये हो सकता है। व्याख्या में बहुत से सवाल जबाव होते हैं। हर एक वाक्य की उपयोगिता, प्रसंगसंगति अपूर्वता या अनुवाद अर्थवाद आदि विचारे जाते हैं। व्याख्या चाहिये, अनुवाद काफी नहीं है।

अस्तु, मुसलमान मूर्ति पूजा नहीं करते, कुरआन में मूर्ति पूजा को बुरा माना गया है, उन्हें यह भी ठीक से जान लेना चाहिये कि मूर्ति पूजा की बुराई सब से पहले मूर्तिपूजकों ने ही की है, वे ही जानते हैं कि मूर्तिपूजा क्यों बुरी है, मूर्तिपूजा की बुराई समझते हुए ही वे मूर्तिपूजा करते हैं, वे जानते हैं कि अगर मूर्तिपूजा बुरी बात है तो मूर्तिपूजा न करना ज्यादा ही बुरी है, इसी से मुसलमान भी अपने ढंग से मूर्तिपूजा करते ही हैं। फिर भी समझना चाहिये कि अल्लाह ने मूर्तियों को तोड़ने के लिये ही मुसलमान बनाये हैं। मुसलमान मुसल्लम ईमान कैसे पा सकता है यह पता अभी तक नहीं चल पाया है। न यह बात मुसलमान समझते हैं न दूसरे लोग। कुरआन की पहुँच से बहुत ऊपर उठे बिना ईमान मुसल्लम हो ही नहीं सकता। जरूर मुसलमानों को अपना-अपना ईमान बढ़ाने में कुरआन दूर-दूर-तक मदद देना चाहता है। यह जरूर एक अच्छी किताब है लेकिन इसे खराब कर लिया है मुर्गा खाकर इसे सिर्फ पूजने में जुटे अनपढ़ों ने। कोई भी किताब ज्ञान बढ़ाने के काम आती हुई जड बुद्धियों के अज्ञान बढ़ाती भी है। आज के मुसलमान अपनी सूझबूझ दुरुस्त करके पता लगायें कि जब मुहम्मद साहब को ''विस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम'' सौ से ज्यादा बार पढ़ाया गया तो उस वाक्य का उपयोग मुर्गा काटने में क्यों करने लगे ? क्या कुरआन में ऐसा लिखा है कि जितनी भी कतलें करो वह सब इसी छुरी से करो। हमे मान लेना पड़ता है कि कुरआन इस धरती से ज्यादा ही दूर की किसी दुनियां से आया है इसी से इसकी कोई बात अगली से कटती जाती है। धरती वाले ऐसा लिखना बोलना पसन्द नहीं करते। एक मुसलमान ही अपने बाप की काफिरी मिटने की उम्मीद न होने पर आगे कतल के लिये उसे पालना चाहता है। अल्लाह के यहाँ ऐसा कानून नहीं है कि किसी बेटे पर अगर उसकी पूरी रहम हो जाये तो वह उसके बाप पर भी उतरे। इससे मानना पड़ता है कि अल्लाह कभी नरसिंह नहीं बना था, नरसिंह ने तो साफ कहा था कि तेरा बाप चाहे जैसा भी हो वह तेरे नाते ही पूरा पाक हो गया, सिर्फ वही नहीं बल्कि इक्कीस पीढ़ियां पाक हो गयीं। ज्ञान की ऐसी महिमा है। असल में कुरआन से प्रहलाद जैसा ज्ञान होता ही नहीं, इसी से ईमानवाले के काफिर बाप को काटना पड़ता है कोई भी काफिर अपनी मौत नहीं मर सकता, उसे काटना ही फर्ज है, यह इस्लामी कानून है।

किसी भी अहंकार के विमर्श के लिये मानसिक स्तरों की पहचान पहली आवश्यकता होती है। दुनियां में ऐसी कोई किताब नहीं आयी है जिसे पकड़ कर इनसान दोजख में न गिरे। हम किसी भी गाड़ी से मौत के ठिकाने पहुंच सकते हैं, ऐसे ही हर किताब अज्ञान बढ़ाने लायक है, हमारी अच्छी किताबों की बहुत गलत व्याख्यायें हुई हैं। केवल मानवी प्रज्ञा और प्रतिभा ही बुरी किताबों से भी जन्नत निकालना जानती है। लेकिन हमारा दुर्दैव ऐसा है कि सारे रोगों को जड़ से मिटाने वाला दही हम ऐसे खाते हैं जिससे शरीर में छिपे दर्जनों रोग एक साथ उभर पड़ें। अब पाक अक्ल वाले इनसानों को पता लगाना चाहिये कि इनसान को पहले दुरुस्त कैसे किया जाये कि वह जलाने के काबिल किताबों में भी जन्नत ढूंढ़ सके और जन्नत वाली किताब से भी खतरों की राह पहचान कर उनसे खुद बचता चले और दूसरों को भी बचाये। इसी के लिये भारतीय जीवन पद्धति में व्याकरण न्याय मीमांसा शास्त्रों में उन्हें महासमुद मानकर उसके राजहंस बनते हुए कुछ मूल्यवान् जीवन देखने को मिलते हैं। वे ही कहे जाते हैं पद वाक्य प्रमाण पारावार पारीण। यह दुर्लभ योग्यता भी अहंकार बढ़ाती है। शिव ने ब्रह्मा का अहंकार बढ़ा पाया, तब उनपर पुत्री के भोग का इल्जाम लगाया और उनका पांचवां सिर काट डाला। यह उनका अधिकार नहीं था, कोई म्लेच्छ ही ब्राह्मण का सिर काट सकता है, बाघ ही गाय पकड़ कर खा सकता है। शिव को सजा मिली, वे ब्रह्मकपाल से छूटने के लिये बारह वर्षों तक घूमते रहे। जिस बड़ी हस्ती ने उन्हें छुड़ाया वह कुरआन जानता था, अरबी पढ़ी थी ऐसा समझना मुश्किल है। उसने कुरआन उतारा था यह मानना तो और भी मुश्किल है। संस्कृत कुरआन मानने से समाधान हो सकता है। बात तब की है जब अरब का ही पता नहीं था, तब अरबी कैसे होती। हम यह कहना कभी पसन्द नहीं करते कि कुरआन और बाइबल ने इनसान को बांटा। इन कितबों ने तो कुछ अच्छी राहें दिखलायी। बँटना तो इनसान का निजी स्वभाव है, राह ही यह बहुत पहले से बँटती चली आ रही है। एक ऐसा समय जरूर था, जब इनसान बंटा नहीं था, पानी में मेढ़क के बच्चे मछली लगते हैं। बँटना कोई बुरी बात नहीं है, वह तो प्रकृति का नियम है। बुरी बात है असहन। किन्तु असहन से आगे भी एक इनसानी बुरी लत देखी जाती है। उसे हम कह सकते हैं हिंसा विहार।

किसी का सिर काटकर उछालते चलना, बच्चों को आसमान में उछाल कर भाले की नोक में ले लेना, उनका कलेजा निकाल कर माँ बाप के मुंह में घुसा देना, औरतों का स्तन काट देना, महीनों तक कुछ–कुछ अंग काटते हुए धीरे–धीरे जान मारना, जिन्दा मुर्गा आग में डाल कर पकाना, ऐसे कामों को हिंसा विहार यानी घोर पापों को ही सुख मानना कहते हैं। इन्हें जायज ठहराने के लिये कोई जेहाद भी कह सकता है। किन्तु असली जेहाद वही है जिसमें हिंसा का नाम भी न हो जैसे असुरराजपुत्र प्रहलाद ने किया था। धर्म या इस्लाम के नाम पर भी जान मारने वाले जहां पहुंचते हैं उसे ही अरबी में दोजख कहा जाता है। दोजख शब्द का सही अर्थ संस्कृत के किसी मर्मज्ञ से सीखकर कोई भी मुसलमान जन्नत की ओर बढ़ सकता है।

आइये, इनसान को ऐसे नहलाइये कि वेद पुराणों की, तन्त्र–मंत्र की, बाइबल, कुरानों की और धन सम्पदा की, जात बिरादरी की, ज्ञान मान की, पशुबल की मैल एकदम धुल जाये और वह ऐसा मानव तैयार हो कि दुनियां बनाने वाला सारे काम छोड़कर उसकी ओर दौड़े और बहुत प्रेम से उठा ले। कैसे होगा ? यह ऐसे होगा कि हम मानते चलें कि ज्ञान हमारा सहज स्वभाव है, किताबों से उसमें थोड़ी मदद मिलती हैं। अभी पूर्व पापों से वह स्वभाव दबा हुआ है, इससे स्कूल जाना पड़ता और समझना सीखना याद करना पड़ता है, जिनके पाप कम होते हैं वे जल्दी सही ज्ञान पा जाते हैं। वे मिले हुए ज्ञान को अपना मानते हैं किताबी मानना उन्हें कम पसन्द पड़ता है। दूसरी बात हम यह भी समझा करें कि हम खुद को इनसान जरूर कहते हैं लेकिन एक उस रुह से बढ़कर हम कुछ नहीं हैं जो अल्लाह को, ईश्वर को, परम आत्मा को, विश्व के रचयिता को हृदय से ज्यादा भाता है, जिसके लिये वह कहा करता है कि मैं ही सारे रुह हूँ। रुह को ही दूसरे लोग आत्मा जीव चेतन और कभी–कभी परम ईश्वर भी कहा करते हैं। अल्लाह को दुनियां की कतई जरूरत नहीं है फिर भी वह बनाता है, हम से खेलने के लिये और हमें पाने के लिये। खेल से ही हमें वह पा सकता है, बच्चे बड़ों को खेल से ही मिलते हैं। यह दुनियां ईश्वर का एक बगीचा है, हम उसके पेड़ पौधे फूल फल है, खिलौने हैं।

तीसरी बात हमें ध्यान में रखनी होगी कि जैसे ईश्वर को दुनियां से या इसकी किसी भी चीज से मतलब नहीं है वैसे ही हमें भी किसी भी चीज की, विस्तर की, भोजन की, कपड़ों की दवा की, सोना चांदी की जातविरादरी की मान इज्जत प्रतिष्ठा की घर द्वार की, आंख, कान, नाक, की किसी शरीर की भी जरूरत नहीं है। इनके बिना ही हम हर तरह से, भरपूर ज्ञान और आनन्द से सदा जुड़े ही रहते हैं। इतनी सी बात कोई कभी न समझ पाये यह स्वभाविक है, किन्तु यह भी स्वाभाविक है कि कोई आसानी से जल्दी समझ ले। जो न समझ पाये और जो देर से समझे उन सब पर परमआत्मा की कृपा और आत्मीयता रहती है। लोगों के पुराने कर्म समझ में कम ज्यादा अवरोध बनते रहते हैं। कर्मों के फल देते रहना प्रभु की एक कृपा ही हैं। जिस दिन जीव अपने सारे पुराने कर्मों को अज्ञान का नतीजा मान ले और उनके फलों को किसी भी माने में अपने उपयुक्त न माने एवं परमआत्मा का विस्मरण और उनके बिना समय का बिना कष्ट के कटते जाना, अज्ञान में ही मौज लूटना केवल परम्परागत अज्ञान का फल समझ ले उस दिन वह अज्ञान के ज्यादा से ज्यादा पर्दों से छूट जायेगा और थोड़ा बचा बुरा संस्कार भी सहज भक्ति के प्रकाश में मिट जायेगा। भक्ति की सघनता और कुसंस्कारों के क्षय में कई जन्मों का भी समय लग सकता है किन्तु मोक्षमार्ग का अर्जित ज्ञान मिटता नहीं, वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही है। ज्ञान ही चेतन का ठोस बल है जो पापों के बिना घटता नहीं, अज्ञान के बिना पाप नहीं होते, पुराने पाप ज्ञान से ही मिट जाते हैं। इससे अज्ञान बढ़ नहीं पाता, मुक्ति का मार्ग खुलता जाता है। अपना कैवल्य यानी सहज एकाकीपना शास्त्र संगत तर्कों से समझ लेना चेतन का प्रमुख पुरुषार्थ है। उससे सारे पुरुषार्थ सुधरते और सुलभ भी होते हैं। मोक्ष का तो वह आदि सोपान है ही।

तो आइये, अपने को और अपनों को नये सिरे से समझें, आप और हम ईश्वर के समान सदा एक रूप एकाकार हैं ही, घटना बढ़ना नहीं है, हमें भोजन नहीं चाहिये, वह प्रारब्ध से शरीर को मिलता हैं, हमारा प्रारब्ध ही भोगों के लिये शरीर को कायम रखता है, यह मानव जीवन पशु-पक्षी जीवनों के समान ही प्रारब्ध पर निर्भर है, स्वयं को समझने के लिये कीट पतंगों को समझें, वे अपने आहार वाले स्थानों पर ही मिलते हैं, अपने

अनुकूल वातावरण में, अनुकूल तापमान में मिलते हैं, अनुकूल तापमान में ही प्रकृति उन्हें जन्म देती है, वे अपने मन से जगह का या समय का चुनाव करके जन्म नहीं लेते, जन्म के बाद खुद को थोड़ा-थोड़ा जानकर चारा ढूंढ़ने लगते हैं, प्रकृति ही आहार की पहचान कराती है। तितलियाँ उड़ने की ट्रेनिंग लेकर जनमती हैं, एक फूल से दूसरे फूल पर बैठकर परागण करती हैं, उसी से हजारों फल साग सब्जी तैयार होते हैं, इस काम के लिये उन्हें मजदूरी कौन देता है, वे हड़ताल क्यों नहीं करतीं, क्यों करें, इंसान से उन्हें कुछ मिलना नहीं है, वे तो निष्काम सेवा करती हैं, सत्संग के बिना ही उन्हें सेवा सूझती है, सेवा पूरी होते ही कोई पक्षी उन्हें उठा लेता है। हम देख सकते हैं कि तितली को पक्षी खा रहा है, लेकिन उसे खा कौन सकता है, एक तितली को एक पक्षी हजार बार खा सकता है। इसके लिये तितली हजार बार जन्म लेगी। पक्षी को भी खाने वाले बहुत से जन्तु हैं, जैसे मनुष्य या कुत्ते, कुत्तों को भी आग में पकाकर इनसान खाता है, वही इनसान वोट देकर अपनी सरकार गढ़ता है। उसकी सरकार कानूनी चोंच से उसका खून पीती है। इण्डिया में ऐसा हो रहा है या नहीं, इस पर रिसर्च होगा।

इन कीट पंतगों से लेकर सरकार तक हुए हमारे अपने। खुद को हम अभी तक ठीक से समझ नहीं पाये हैं। फिर से समझें, ये जो हजार अपने हुए इन्हें हम क्या देते हैं और क्या अपनों की लिस्ट पूरी बन गयी। हम जो कीमत देकर दूकान से लौकी खरीदते हैं तो क्या वह हमारे हक की चीज हो गयी? जिसने तौलकर दिया उसके जेब में हमारा पैसा गया, वह कहेगा ही कि अपना हक हमने बेच दिया। खेत में काम करने वालों को मजदूरी किसान देता ही है तो हम लौकी काट कर छौंक लें, खाजायें तो कोई गलती तो नहीं है? सोचिये, किसान के कुएँ में पानी का सप्लाई कौन करता है, सब्जी का पौधा किसने अंकुरित किया, उसका विकास किसने किया, फूल निकला, परागण हुआ, फल आया, बढ़ता गया, खाद पानी की बुराइयाँ टाल कर उसमें अच्छा स्वाद भरा यह सब प्रकृति ने किया, सोचिये प्रकृति के कितने नौकरों ने मिलकर वह फल तैयार किया, उन्हें मजदूरी कहां से मिलती है, वे फ्री में काम कैसे करते होंगे, हम उन्हें यदि कुछ न दें तो हमसे वसूल करने का कोई उपाय उनके पास है या नहीं,

जी, सब्जी का कौर मुंह में डालने से पहले तय कीजिये कि हम पर कर चोरी का कोई केस तो नहीं बन रहा। आपको पता होना चाहिये कि उस लौकी को आकाशचारी नौ ग्रहों ने अपने हाथों से बनाया था। ये ग्रह वे हीं हैं जो वसूलना ठीक से जानते हैं। जिसको जितना ज्ञान हो, समझने में जितना सक्षम हो उससे उतना ज्यादा टैक्स वे वसूल लेते है किन्तु यदि हम स्वेच्छा से उनका थोड़ा ही टैक्स दे दें तो अपनी कार्यवाही वे हम पर नहीं करते। आपका मतलब हुआ कि ग्रहों के नाम पर हम कुछ दिया करें ? हमारा मतलब है कि जिन सातों से हमारा जीवन प्रभावित है उन्हें ठीक से समझ लें और उनके लिये कम से कम हाथ जोड़ लें। तो क्या ग्रहों के अलावा भी स्रोत हैं, क्यों नहीं, हमें बादलों की, वर्षा की जरूरत होती है उसकी पूर्ति करने वाली प्रकृति की कोई शक्ति है, समुचित ऊष्मा स्थावर जंगम शरीरों में भूमि में, वायुमण्डल में, जल में, पहुँचाना और सीमित रखना किसी शक्ति के अधीन है, वांछित की सुरक्षा के लिये अवांछितों का नाश भी कोई शक्ति करती है। अच्छे उपयोगी पौधों के लिये हम जो कंटीले घेरे बनाते हैं जिससे प्रवेश रुकता है जिसे निर्ऋति कहते हैं वह भी एक कामयाब शक्ति है, जल का भण्डारण और समुचित वितरण करने वाली शक्ति वरुण है, प्रकृति में बहुत प्रकार की गैस हुआ करती है उसकी व्यवस्था करने वाली शक्ति वायु है, सारे खनिज तत्त्वों का उत्पादन और वितरण जो सब से ज्यादा जरूरी काम है जिसे रत्नों की अंगूठी पहनने वाले जानते हैं उसे समयानुसार करने वाली शक्ति कुबेर है, जिसके लिये आज की दुनियां धर्मनिरपेक्षता के गीत गाने लगती है, वह सब से बड़ी शक्ति है, विश्व में होने वाले सारे संघटन और विघटन जिस बड़ी शक्ति के अधीन है वह भी ध्यान में रखने योग्य है, उसे ही कुछ लोग ईशान कहते हैं दूसरे लोग दूसरे नामों से जानते हैं। नौ ग्रहों के अलावा प्रकृति की ये आठ शक्तियाँ हैं जो आठ दिशाओं में बिखरी हैं उनके लिये भी हाथ जोडना चाहिये, बन सके तो थोड़ा जल ही ढ़ाल देना चाहिये। तब तो हम दिन भर यही करते रहेंगे और जीवन के जरूरी काम छूट जायेंगे। ऐसा नहीं हैं, हमारे यहां सत्रह अभ्यागत आयें और वे हमारे हितकारी हों तो उनकी खातिरदारी हम करेंगे ही। चूँकि ये सारे हमारे अपने हैं, ये हमारे सारे काम कर रहे हैं, इन पर ही हमारा जीवन निर्भर है, इन्हें भूलकर हम खुद

को भूलते हैं तब बहुत बड़ी हस्तियों के अपराधी बनने लगते हैं। अच्छे जीवन के लिये स्वयं को ठीक से जानते रहना पहली आवश्यकता है।

स्वयं को कैसे जानें

देश में बहुत से जातिस्मर हो गये हैं, आगे भी हो सकते हैं, वे खुद को अपने पिछले जन्म से पहचानते हैं, जो जातिस्मर नहीं हैं वे सारे स्वयं की अपनी सहज इच्छा प्रकट करते रहते हैं। जातिस्मरों की भी सही पहचान वर्तमान इच्छायें ही होती। इच्छायें मानव की कीमत भी होती है। सबकी इच्छायें ऊँची नहीं होती, समाज में अधिकांश लोग नीचे रहना पसन्द करते हैं। लेकिन यदि ऊँचाई दुर्लभ है तो नीचापन भी अपमान है। दोनों हमारे लायक नहीं है। असल में हम वह हैं जिससे अच्छा और ऊँचा कुछ है ही नहीं। प्रत्येक जीव हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु हो सकता है और भगवान् उसे उन अवस्थाओं से हटा कर उत्तम पद दे सकते हैं। भगवान् का ऐसा नियम नहीं है कि उन असुरों की भावना हो तब मिलें। वे तो तभी मिल सकते हैं जब हम सारी इच्छायें छोड़ कर अपने आप में सन्तुष्ट रहने लगें। विषय सुखों की तुलना में स्वरूपसुख को बहुत अधिक एवं सर्वोत्तम समझने लगें। हमारी ऐसी मानस अवस्था हो जाये और भगवान् न मिलें ऐसा सम्भव नहीं है। ऐसा चेतन परमात्मा को अतिशय प्रिय होता है, उसे वे शीघ्र संसार से अच्छी अवस्था यानी मुक्ति देना चाहते हैं। स्वरूपसुखनिष्ठा से विषयवासना धीरे-धीरे कटती जाती है और स्वरूप सुख प्रकाशित होता जाता है, इस क्रम को कैवल्य कहते हैं, कैवल्य भी मोक्ष माना जाता है। यह उन्हें मिलता है जो शुरु से ही भगवान् के प्रति उदासीन रहते हैं। केवल आत्मा भी भगवान् का प्रिय ही होता है किन्तु उसे दर्शन की स्पृहा न होने से दर्शन और उसका आनन्द नहीं मिलता।

दो विधायें

स्वयं को जानने की दो विधायें होती हैं। एक नकारात्मक और दूसरी सकारात्मक। प्रकृति की सारी अवस्थाओं का निषेध नकारात्मक हैं और पुरुष के सहज ज्ञान और आनन्द का स्वीकार सकारात्मक है। संसार अवस्था में पुरुष का ज्ञान रागमय या द्वेषमय होता है। किन्तु मुमुक्षु की साधना की अवस्था में वह सहज कहलाता है, उस समय विषयों का ग्रहण

होता है किन्तु उनमें तनिक भी राग या द्वेष नहीं होता। जो व्यक्ति रोटी दाल से छक चुका होता है वह उस समय कोई मिष्टान्न भी पसन्द नहीं करता। स्वरूपभूत आनन्द से सन्तुष्ट व्यक्ति भी बाहरी रमणीयता से प्रभावित नहीं होता। यदि बाहरी अर्थ ज्यदा अच्छा लगे, उसे पाने की ललक हो, तो साधक सम्हल कर सोचता है कि यह मेरी ललक मेरे प्राकृतिक अन्तःकरण का परिणाम है, यहां अज्ञान की वासना काम कर रही है, बाहरी अर्थों में भोग्यता का बोध एक अज्ञान ही है, यह अज्ञान हमारे पुराने कर्मों का फल है, स्वाभाविक नहीं है। सत्संग से शास्त्रज्ञान होता है, शास्त्र कहते हैं कि जेल में सारे भोग पराधीन होते हैं, वे अधूरे होते हैं, भोगों की पूर्ति के लिये जेल से छुटकारा चाहा जाता है। यह संसार एक बड़ा जेल है, इसमें इन्द्रिय रूपी चम्मच से थोड़ा-थोड़ा भोग मिलता है, समग्र स्वरूप सुख के लिये समग्र कर्म बन्धन यानी संसार बन्धन से निकलने की आवश्यकता है। निकलने में शास्त्र हमारे सहायक हैं। शास्त्र हमें स्वरूपनिष्ठा पर बल देते हैं और इन्द्रियसुखों का परिणाम जो दुःख होता है उस पर ध्यान रखने की सलाह देते हैं। क्षरण से जो अवसाद होता है, वह अवसाद बढ़ता भी है। वह आत्मा का घोर पराभव है, उस पराभव की ओर दौड़ रहा जीव आगे अज्ञानमय मृत्यु की परवाह नहीं करता, यह आनन्दमय चेतन की अति निन्दनीय जड़ता है। इस जड़ता की पहचान होने से सत्संग चाहा जाता है, सत्पुरुष स्वरूप का ज्ञान अनेक पक्षों से करा देते हैं, तब प्रमाद मिटता है, विषयस्पृहा छूटती है, मोक्ष मार्ग में प्रगति होती है।

स्वरूप का शाब्द ज्ञान होने पर भी विषय स्पृहा बनी रहती है। अज्ञान अनेक जन्मों का होने से बलवान् होता है। उसे मिटाने के उपाय के रूप में यम नियम संयम और कर्मनिष्ठा काम आती है। ये उपाय किसी सदाचार्य के निर्देशन में सफल होते हैं, प्रमाद नहीं हो पाता। इसी से कहा गया है-

''आचार्यवान् पुरुषो वेद'' जिसे शास्त्रज्ञ गुरु प्राप्त हो वही परमार्थ समझ पाता है। '' नावेदविन् मनुने तं बृहन्तम्'' जिसने वेद नहीं समझा वह उस अनन्त परमतत्व को नहीं समझ सकता। धर्म और मोक्ष की ओर से बेखबर जीवन शुरु से ही देखा जा रहा है। किन्तु यह बेखबरी व्यक्तिगत

और सामूहिक एवं सामाजिक सारी बुराइयों की जड़ है। आजकल सरकस में दिखलाया जाता है कि बन्दर कुछ मानवोचित हरकतें करता है, शादी व्याह की घरेलू व्यवस्था करता है, ट्रेन की ड्राइविंग करता है, हाथी शिवार्चन करता है। तोता मैना शुरु से ही वेद पढ़ रहे हैं। फिर भी इनकी चेष्टायें एक स्वस्थ मानव के लिये मनोरंजन के सिवा और कुछ नहीं है। जो मानव धर्म और मोक्ष का चिन्तन भी नहीं करता वह राजनीति समझे और राज्य चलाये यह एक विडम्बना के सिवा और क्या है ? घोषित धर्महीनों को, घोटालों से कलंकित जीवन को जिस देश की जनता राजनीति सौंपे वह देश कभी भी ईसा या मुहम्मद की सीख भी समझने के भी लायक नहीं है। उनके अनुसार जीवन बनाना तो बहुत दूर की बात हैं। हमें मानना पड़ता है कि ईसा और मुहम्मद के चेलों ने दम्भ पाखण्डों से भरे अपने पिछले इतिहास को और भी बुरी तरह से कलंकित किया है किन्तु अपने छोटे से इतिहास वाली इण्डियन कांग्रेस ने उनसे अच्छा कुछ करने की कौन सी योग्यता अर्जित की है। वह तो उन्हें गुरु मानती है केवल वोट के लिये या पाप धन के लिये। अस्तु, यहां इतना ही तात्पर्य है कि देश का कोई भी समुदाय अपने शुद्ध स्वरूप पर आस्था बनाने के उपयुक्त नहीं लगता। कुछ सत्संगी धर्मनिष्ठ लोग अवश्य मिलते हैं किन्तु वे पहले कैसे रहे हैं यह जानना आवश्यक होता है। जानकर ही पुराने संस्कार मिटाये जा सकते हैं। अहंकार तत्त्व को आत्मा से भिन्न एक परिणामी द्रव्य के रूप में जानकारी बच्चों को ही करा दी जाये। नित्य अपरिणामी एकरूप आत्मा मैं हूँ। सुखदुःखात्मक सारे परिणाम कर्मों के अनुसार अहंकार में होते है। अहंकार ही मन, बुद्धि चित्त अवस्थाओं में बदलता रहता है। चाहने योग्य अर्थ केवल मन की उत्तम अवस्था ही है। उसके लिये कुछ बाहरी उपकरण अवश्य अपेक्षित होते हैं। इतना बोध बच्चों को और करा दिया जाये तो समाज का भी सुधार हो सकता है।

मानस दोषों का वारण

मन के सारे दोष स्वयं को ठीक से न समझ पाने से होते हैं। स्वयं को समझने में उत्साह कम लोगों को ही होता है, इससे अपराधी प्रवृत्तियाँ समाज में ज्यादा देखी जाती हैं। देश के नेताओं को शीलयुक्त शिक्षा विकसित करने की कल्पना नहीं होती। कुछ थोड़ी संस्थायें शील पर

अवश्य ध्यान दे रही हैं। किन्तु व्यापक रिश्वतबाजी अल्प शील का भक्षण कर जाती है। आज के दुर्विदग्ध नेता राष्ट्रिय समस्यायें उत्तरोत्तर बढ़ा रहे हैं, उनके वारण की चिन्ता उन्हें है ही नहीं। हतभागी जन विनाश के बाद ही सोच पाते हैं। समग्र देश में शील का स्तर काफी घट चुका है। यह सन्निहित अकस्मात् पराभव का स्पष्ट संकेत है। यह बात कौन समझे ? नशेबाजों में कौन समझ पायेगा कि सभी नशे में हैं, कोई गम्भीर बात समझने की स्थिति में कोई नहीं है। धर्म रक्षा करता है, दुःशील और प्रमाद धर्म की कमी से होते हैं, बचे धर्म का नाश भी करते हैं तब स्वतः सिद्ध पराजय आगन्तुक गुलामी से दिखाई पड़ता है। गोभक्षी यवनों बिड़ालाक्षों की दासता ही गुलामी नहीं होती, घर की अराजकता ज्यादा ही घातक गुलामी होती है, यह तथाकथित बहुत से विकसित देशों में और अपने घर में भी स्पष्ट देखा जा रहा है। बल्कि कहना चाहिये कि विवेक और शान्ति बढ़ाने वाला स्थिर शासन विश्व में सर्वत्र पिछले हजार वर्षों से अनुपलब्ध है। समस्या केवल भारत की नहीं है, सारे विश्व की है।

इसका एक ही निदान है आत्मदर्शन। सारे मानव एक हों या नहीं किन्तु सारे आत्मा अपने स्वरूप में अत्यन्त तुल्य हैं, इस तुल्यता का साक्षात्कार परमात्मा को सदा होता रहता है, इससे विश्व का सही मूल्यांकन वे ही कर पाते हैं। अध्यात्मविद्याओं के परिशीलन से हम ईश्वरीय प्रज्ञा का आभास पा सकते हैं। धर्महीनों की संसद अध्यात्मविद्या के लिये दस–बीस लाख टुकड़े डाल दे और उन्हें कौवे कुत्ते उठा लें यह तो सम्भव है किन्तु यह तो नितान्त असम्भव है कि कोई विधर्मी या उसका दोस्त सांसद दस बीस मिनट भी स्वयं को समझने के लिये बैठने की ठाने। उतना बैठने से घोटालों के सैकड़ों प्लान बैठ जायेंगे। तब उसके जानते देश की प्रगति रुक जायेगी। तांगे में जुता घोड़ा न सन्ध्या करता है न नमाज अदा करता है। पाप मतालम्बी कुर्सी पर बैठा सांसद उस घोड़े से कम बन्धा नहीं होता। जिस देश की संसद न्यूनतम 40/प्रतिशत मत अध्यात्मनिष्ठों से पाती हो वह कल्याणमयी होगी। जो स्वार्थी संसद सारे मतदाताओं को जन्मान्ध बनाते रहने के षड़यन्त्र में लिप्त हो उसके देश में अहंकार तत्त्व पर विचार तो एक राजद्रोह होगा। रावण के समय वनों में ऋषि मुनि स्वरूप चिन्तन में लगे रहते थे और रावण के राक्षस उनका भक्षण कर जाते थे। क्या आज ऐसी

स्थिति नहीं है ? ईमानदारी से उत्तरपुस्तिका जांचने वाले अलौकिक शिक्षक बेईमान की फांसी में लटकाये नहीं जा रहे ?

अस्तु, स्वान्तः सुखाय कुछ लिखा जा सकता है। रामचरितमानस वैसा ही था जो अब सकलान्तः और विकलान्तः सुखाय भी बन गया है, कुछ लाभ होता ही होगा। पहले हम भोग और कर्म का अन्तर समझेंगे फिर करणीय वह कर्म समझेंगे जिससे पतन से दूर अभ्युदय और निःश्रेयस की ओर हमारी प्रगति होती है। सुख या दुःख का साक्षात्कार भोग कहा जाता है। पिण्डज, अण्डज, ऊष्मज और उद्भिज्ज चार प्रकार के शरीर होते है। पिण्डज मनुष्य पशु आदि प्राणी गर्भ की ऊष्मा में एक प्रकार का सुख पाते हैं, इसी से उनका शरीर प्रसवयोग्य विकास पाता है। वह सुख और वह विकास उनका भोग होता है। मादा पक्षी गर्भ वाली ऊष्मा बाहर आये अण्डे में भी जारी रखने के लिये उस पर बैठा करती है। यह ट्रेनिंग, नरपक्षी से प्यार की ट्रेनिंग, गर्भावस्था का ज्ञान और उस अवस्था में अण्डे देने के लिये अपनी जाति के अनुरूप घोंसला बनाने के लिये उपकरण ढूंढ़ कर बैठने की ट्रेनिंग उसे गर्भ में ही प्राप्त रहती है। माता के शरीर से मिली ऊष्मा अण्डे के अन्दर पक्षी शरीर या सर्प आदि शरीर विकसित कराने वाला एक सुख जारी रखती है। मछली और मेढ़क के अण्डे पानी में तैरते रहते हैं। पानी की अपनी ऊष्मा ही वहां भी सुख देती है, शरीर विकसित होता है। बिना अण्डे के केवल ऊष्मा से भी सैकड़ों जन्तु उत्पन्न होते हैं, उनके बीज वायुमण्डल में फैले रहते हैं, वे शरीर के अन्दर भी घुसकर केचुवे आदि बनाते हैं। बाहर खटमल जूं चिल्लर आदि बनते हैं। केवल पार्थिव ऊष्मा से भी हमारों वृक्ष लता ओषधि नवस्पति तैयार होते हैं। उनके बीजों में जीव होते हैं। उन्हें भी पार्थिव ऊष्मा के सुख से विकास प्राप्त होता है। हम जानते हैं कि सुख का अनुभव मुख्य भोग है उसी से विकास होता है, दुःखों का अनुभव दूसरा भोग है, उससे नाश होता है।

ये सारे भोग प्राचीन कर्मों से प्राप्त होते हैं जो आजीवन कम वेशी बने रहते हैं। कमी वेशी और शुभ अशुभभाव पिछले कर्मों की अनन्त विविधता सूचित करते हैं। वनस्पति औषधियां अनन्त हैं, उनके आवास और विकास के प्रकार अनन्त हैं, ऐसे ही ऊष्मज, अण्डज जरायुज प्राणियों की असंख्य जातियां हैं, उनके सुखभोगों के अनन्त प्रकार हैं। हम इन्हें

प्रकृति के परिणाम मानते हैं, इनके अन्दर बैठकर आनन्द लूट रहे देवताओं को नहीं जानते। किसी पेड़ पर किसी कष्टमय एवं कष्टप्रद प्रेत का पता चल जाता है तब अपने बचाव के लियें हम उसकी पूजा करने लगते हैं। पूजा हर वृक्ष की होनी चाहिये, बड़ी श्रद्धा से, पूरी श्रद्धा से, स्थायी श्रद्धा से हम किसी भी वृक्ष की पूजा कर सकते हैं, सारे वृक्ष भगवान् की प्रतिष्ठित मूर्तियां हैं, देवालय के देवता से उनका महत्त्व कम नहीं है। जिन शास्त्रों से कुछ वृक्षों का लताओं का ज्यादा महत्त्व हम समझते हैं वे ही सारे जड़ जंगम शुभ अशुभ जन्तुओं को भगवान् की पूजनीय प्रतिष्ठित मूर्तियां बतलाते हैं। हम सारे वृक्षों लताओं जन्तुओं प्राणियों, पशुओं मानवों की पूजा एक साथ या क्रम से भी नहीं कर सकते किन्तु उन्हें पूजा योग्य एवं पूर्ण श्रद्धा योग्य बिना ही कठिनाई के मान सकते हैं। प्रतिदिन प्रातः विश्वात्मा परमात्मा के लिये एक बार साष्टांग प्रणाम तो हम कर ही सकते हैं। मिलने वालों को दुबारा प्रणाम कर लीजिये। दिन में पचीस बार यदि आप के हाथ जुड़ जायें तो क्या खर्च है। प्रभु के लिये बार-बार हाथ जोड़ने का अभ्यास सबसे महान् धर्म है। इतने से मानव जीवन सफल हो जायेगा। प्रभु को पाने के हजारों उपाय हैं, ऐसा एक उपाय अपनाइये जिससे स्मृति बनी रहे। युवकों के ध्यान में एक युवती रहती है, बच्चों के ध्यान में एक गेन्द रहता है, छात्रों के ध्यान में एक पुस्तक रहती है, बड़ों के ध्यान में कुछ धन रहता है, माताओं के ध्यान में एक शिशु किशोर रहता है, चोरों के ध्यान में पर धन रहता हैं, डाकुओं के ध्यान में लूट का धन होता है, अपने द्वारा कटे पिटे सामने ही मर रहे मानव नहीं होते। बाघ के ध्यान में एक अच्छी गाय होती है, लकड़बग्घे के ध्यान में एक भेड़ या बकरी होती है जेहादी के ध्यान में पर धन परनारी, जला मकान और यह सब देख रहे निराकार अल्लाह की मुसकान होती है। ईसाई पादरी के ध्यान में भेंट में मिलने वाली नवयुवतियां होती हैं, कटा समाज, कटा देश, कटा राष्ट्र होता है। अज्ञानी मन अधूरी दृष्टि रखता है, पापी मन अच्छाई छोड़ बुराई लेता है। शुद्ध मन को बुराई मिलती ही नहीं। ध्यान के उक्त सारे विषय परमात्मा की ही मूर्तियां हैं, सबको अपना ध्येय अपने समय अच्छा ही लगता है, हर व्यक्ति अनजाने ही परमात्मा का मानस पूजन करता है। फलतः सभी मूर्तिपूजक हैं। जो लोग मूर्तिपूजा के विरोधी हैं, वे

ही घोर मूर्तिपूजक हैं। अपनी एक रद्दी किताब और एक अज्ञानी गुरु पर ही मुग्ध हैं। वे न समझ पाये हैं न समझ पायेंगे कि मूर्तिपूजा का त्याग तभी सम्भव है जब विश्वव्यापी परमात्मा पर समग्र दृष्टि प्राप्त हो, उनके महान् गुणों का ध्यान हो, प्रत्येक मूर्ति पर पूज्यता का भाव बना रहे, मूर्तियां काठ पत्थर की ही हों यह नियम नहीं हैं। सारे म्लेच्छ दम्भी पाखण्डी हिंसक मनुष्य पशु पक्षी कीट पतंग वृक्ष वनस्पति ओषधी लतायें धरती समुद्र नदियां पर्वत सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र जो जो दीखते हैं, समझ में आते हैं वह सबके सब प्रभु की ही मूतियां हैं। सारी ही पूजा के योग्य हैं। घर की मूर्ति में हम उन सारों की ही संक्षेप से पूजा करते हैं। पूजा की सुविधा के लिये ही हम सालग्राम शिला लेते हैं। उसके अन्दर ही सारे विश्व की कल्पना करते हैं। कोई कहेगा कि छोटी सी मूर्ति में सारा विश्व कैसे समा सकता है। उसे समझना चाहिये कि पीपल के एक बीज में करोड़ों–करोड़ बीज छिपे रहते हैं, यह पाठ पीपल हमें पढ़ाता है। विश्वात्मा परमात्मा आकाश के समान विभु अवश्य हैं किन्तु वे ही अपनी विभुता लिये ही एक अणु के अन्दर आराम से हैं। अणुता के साथ विभुत्व धारण करने की एवम् अनेक परस्पर विरोधी गुण एक साथ रखने की क्षमता होने से ही हम परमात्मा के लिये साष्टांग प्रणाम करते हैं, सिजदा करते हैं।

हम अहंकारतत्त्व पर विमर्श करना चाहते हैं। विमर्श का फल पहले ही मिल जाये तो अच्छा है यह अहंकार ही चौरासी लाख योनियां बनाता है, इससे यदि कोई स्वयं हाथी घोड़ा गदहा सूबर नर नारी नेता लुटेरा ठग–ठगा गुरु चेला पशु पक्षी मृग या और कुछ मानता है तो यह केवल अहंकार का करिश्मा है। माता के गर्भ में घुसते ही चेतन यदि स्वयं को घोड़ा मान लेता है तो धीरे–धीरे घोड़े का शरीर बनता हुआ उसे मिलता है जब कि चेतनतत्त्व कभी भी थोड़ा हो ही नहीं सकता। ऐसे ही वह अन्य कोई जन्तु भी नहीं हो सकता। उसके साथ सदा रहने वाला एक तत्त्व जो मन भी कहा जा सकता है वही उसे पिछले कर्मों के योग से अनेक योनियों के रूप में स्वीकार कराता रहता है। अब हम समझने लगे हैं कि हम वस्तुतः मनुष्य नहीं हैं, मनुष्य के हजारों स्तरों में अपना कोई भी स्तर नहीं हैं। हमारे साथ ऐसा कुछ नहीं है जिससे हम स्वयं को महान् समझें या क्षुद्र समझें। अवश्य ही प्रारब्ध कर्म हमारे साथ लगे हैं, वे ही हमारे

संकल्पों में इच्छाओं और प्रयत्नों में हेरफेर करते रहते हैं। सारा विश्व स्वतः परिणामी है, इससे हमारे संकल्प आदि भी बदलते रहते हैं। हमारी आस्था के योग्य अकेले हम ही हैं। हम से अतिरिक्त नौ ग्रह और आठ या दस दिक्पाल बन्धु मित्र सेवक धन यदि हमारी आस्था के केन्द्र बनते हैं तो वह केवल शरीर सम्बन्ध को लेकर बनते हैं। शरीर से हमें सारे भोग मिलते रहते हैं। इससे क्षण परिणामी शरीर पर भी हमारी क्षण परिणाम वाली आस्था हो जाती है। आस्था चूंकि बदलती है इससे हम इसमें वाञ्छित सुधार ला सकते हैं।

आत्मा से सम्बन्धित और इसके सारे अनुबन्धों से सम्बन्धित यथार्थ दृष्टि बन जाने से हम सांसारिक सारे दुःखों से बचते हैं और छूट भी जाते हैं। अहंकार तत्त्व पर विमर्श के लिये बहुत त्याग अपेक्षित होता है। भारतीय ऋषि मुनियों देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, तपस्वियों ने क्या-क्या कितना पाया भोगा और त्यागा यह जानने के लिये ही हम इतिहास पुराण धर्म शास्त्र पढ़ते हैं,

सभी सही त्यागियों ने अहंकार को और स्वयं को ठीक से अलग-अलग समझा, तभी उनका त्याग सफल हुआ। त्याग दूरी बनाने से नहीं होता बल्कि वास्तव दूरी को हृदयंगम करने से होता है। चोर अज्ञान वश चोरी के लिये बहुत दूर चलते हैं, बहुत मेहनत करते हैं, छिपाने की चिन्ता में मरते रहते हैं। साधु अपने पैर के पास का सोना अनदेखा कर आगे बढ़ जाते हैं। पराये गिरे भी धन से दूर का भी अपना कोई सम्बन्ध वे नहीं देखते। चोरों और साधुओं का प्रतिशत समाज में घटता बढ़ता रहता है।

ज्ञान को विज्ञान मिलने से कोई साधु होता है,
अज्ञान को विज्ञान मिलने से कोई चोर बनता है।

अज्ञान जब सघन ईर्ष्या का रूप लेता है तब विज्ञान उसे मुहम्मद गोरी या ओसामा बिन लादेन बना कर जेहाद का उलटा नमूना सामने पेश करता है। साधु धन को सारे संसार के लिये खतरा मानता है और चोर धनवानों को खतरा घोषित करता हुआ स्वयं को मार्क्स का अनुगामी कहकर धनवान् की हत्या कर उसका धन बिखेर देता है। शासन से बचने के लिये बन्दरों की तरह जंगलों में छिप जाता है।

कुरआन कहता है कि सारी अच्छाइयाँ अल्लाह की हैं, यह अच्छी बात अपने जीवन में हम कहां तक उतार सकते हैं यह देखना है, किसी ने दांत खोदने की एक सींक ली, उससे अच्छा काम हुआ, अच्छी मान कर उसे सम्हाल कर रख लिया, उसकी अच्छाई अल्लाह की ही थी, इससे उसे मन ही मन सिजदा किया, चूंकि अच्छाई सींक में मिली, उस अच्छाई के लिये सिजदा सींक को ही करना हुआ, हमारा सिजदा अल्लाह ने कबूल किया होगा। यहां बुतपरस्ती का गुनाह बनता हैं। कोई मुसलमान जितना भी अच्छी चीजें बटोरता है, जेहाद से जितना भी हीरा मोती लाता है, उतना ही ज्यादा उसमें बुतपरस्ती का गुनाह चढ़ता है। इस गुनाह से बचने का कोई भी उपाय कोई इमाम नहीं कर पायेगा।

सिजदा को बुतपरस्ती से अलग करना चेतन को जड़ से अलग करना, और भोगों से नये कर्मों को अलग करना निहायत बारीकी का काम है।

बहुत पुराना, पहले ही से टूटा एक शिवलिंग मक्का कहा जाता है, उधर को ही सिर झुकाता हुआ कोई भी व्यक्ति बुतपरस्त नहीं तो क्या है। जिसे हिन्दू पूजें वही बुत होता है ऐसा नियम तो नहीं है, तोड़ा हुआ बुत इस्लामी हो जाता है ऐसा भी तो नियम नहीं है। ईसाई भी बुतपरस्त हैं। गिरजाघर या कोई भी इमारत बुत ही है। अफगानिस्तान की किसी पहाड़ी पर उकेरी हुई बहुत पुरानी बुद्ध प्रतिमायें अफगानों ने अब तोड़ी हैं। पहले वे समझ नहीं पाये थे। असल में अब भी वे समझ नहीं पाये हैं। वह पहाड़ी भी तो बुत् ही है। आसमान के चांद और तारे भी बुत हैं, ऊपर नीचे थोड़ा–थोड़ा काटने के बाद भी बचा हुआ पूरा इनसान बुत ही हैं। वही इमाम या मुल्ला कहा जाता है। कुरआन किताब सब से खतरनाक बुत है। डिजाइनदार को बुत कहते हैं। मक्का का कोई डिजाइन पहले था, मुहम्मद साहब ने उसे बदल दिया, वह पहले बुत था, अब भी है। किताबें सारी की सारी बुत हैं, कुरआन क्यों बुत नहीं होगी। कोई कह सकता है कि कुरआन तोड़ने के काबिल बुत नहीं है। जरूर वह तोड़ने के काबिल नहीं है, उसे समझना बाकी है। उसे मुहम्मद साहब ने पूरा समझ लिया था ऐसा मानना मुश्किल है, ऐसी किताब समझने की ट्रेनिंग उन्हें कहीं से मिली हो यह पता नहीं चला है। यह किताब पाकर उन्होंने या बाद वालों ने जैसा जेहाद समझा वह इसी किताब के खिलाफ है। यह किताब ऐसी है कि

इसकी वे सारी आयतें तुरन्त निकाल देने के काबिल हैं जिनके बारे दिल्ली के मेट्रो पोलिटिन मजिस्ट्रेट ने इशारा किया हैं। उन्होंने लिखा है कि यह तो सारी की सारी इनसान के दिल में इनसान पर ही नफरत फैलाती हैं, दूसरा कोई माने भी नहीं है। कुछ आयतें ऐसी हैं जो मुसलमानो के काम की हैं पर किसी दूसरी किताब में रखने लायक हैं। कुछ आयते ऐसी भी हैं जो सच्ची तो हो सकती हें पर किसी अच्छी किताब का स्तर गिराती हैं। अभी इस किताब की सारी आयतों का विश्लेशण और वर्गीकरण नेहायत जरूरी है। फकत वांचने से क्या होता है ? जेहाद के नाम पर सिर्फ गुनाह होते हैं, जन्नत के लिये उतरी किताब दोजख भेज देती है। सिजदा को बुतपरस्ती से निकालने के लिये यह कुछ समझा गया।

अब चेतन को जड़ से निकाल लीजिये। यह ज्यादा ही कठिन है। बुतपरस्ती और जड़ पूजा एक ही बात है जो अलग-अलग नजरों से देखी गयी है। किसी रमणी की चितवन, भौंह या कपोल की बनावट पर कोई ज्यादा ही मुग्ध है, उससे स्वयं को दूर नहीं कर पा रहा है, इसे कोई मुसलमान बुराई न माने यह हो सकता है किन्तु है यह जड़पूजा, मिट्टी पर ही कोई लुभा रहा है, कुरआन में ऐसों को ही मुशरिक कहा गया है, कोई कामी रमणी के शील का बखान कर सकता है किन्तु कामी होने से वह उसकी जड़ देहका ही आदर करता है। वह कह सकता है कि मैं इसके उसूलों, मान्यताओं सिद्धान्तों का आदर करता हूँ किन्तु आलिंगन तो वह मिट्टी का ही करता है, आलिंगन को ही वरीयता देता हुआ पाया जाता है। ऐसी स्थिति में कामी को अपनी भावना पर ही भ्रम हो या दूसरों को भ्रमित करने के लिये जानबूझ कर झूठ बोल रहा हो यह हो सकता है किन्तु चेतना से हटकर जड़ता पर ही निष्ठा होने से यह पहली किस्म की बुतपरस्ती है।

सुपारी, अक्षतपुंज, जल, सूर्य, वनस्पति में या काष्ठ प्रतिमा, धातु प्रतिमा, पाषाण प्रतिमा में भगवान् को या अन्य किसी देवता को आवाहित करके वहां अवस्थित मानकर कुछ उपचार समर्पित करना, भोग लगाना, प्रणाम करना, प्रसाद लेना यदि बुतपरस्ती है, तो भी वह निश्चित रूप से अपराध नहीं है, वहां अपराध की सम्भावना मात्र रहती है। विभु चेतन तत्त्व की, विभुता भुला दी जाती है, एकदेशी मान लिया जाता है, वह

मान्यता भी दिखावटी होती है, अपराधी लोग प्रतिमा छू कर या उसके सामने झूठा शपथ लेते हैं। किन्तु जो लोग मूर्ति पूजा नहीं करते वे बेईमानी नहीं करते, अपराधों से दूर रहते हैं ऐसा नहीं है,

वे ही ज्यादा अपराधों में लिप्त पाये जाते हैं। वास्तव में सारे अपराधों का मूल अज्ञान है। मूर्तिपूजा से कोई दोजख में नहीं गिरता, अज्ञान से गिरता है, मूर्तिपूजा से दूर लोग सन्त नहीं होते, ज्ञान से होते हैं। ज्ञान के लिये ही वेदपुराण, बाइबल, कुरान बने हैं, अज्ञानी, स्वार्थी लोग सब को धन्धा बना लेते हैं। अज्ञान से स्वार्थभाव आता है, वही कल्याणमय ग्रन्थों में रागद्वेषों के मूल और हिंसा ढूंढ़ लेता है। तब अहिंसा परमोधर्मः समझ में नहीं आता, न मानव में कोई मानवता दीखती है, जब कि मानवता से हटकर विश्व का कोई भी धर्म नहीं है। विकसित मानवता में विश्व के सारे धर्म समाहित होते हैं। विकसित मानवता को ही तत्त्वदर्शन और तत्त्वनिष्ठा कहते हैं, वहीं समाधि है, वही कैवल्य है, इतना ही नहीं सायुज्य मोक्ष भी वही है। हरिकृपा वही है, वैकुण्ठ भी वही है, विकसित मानवता ही पार्थिव गुरुत्वाकर्षण से छूटकर परमपद पहुंच जाती है। जिस दिन हम जड़ता को नमस्कार करके चेतना की पूजा शुरु करेंगे उसी दिन आराध्य हमारी चेतना मुक्ति बनकर हमारा आलिंगन कर लेगी और कभी साथ नहीं छोड़ेगी। वह कहेगी कि मैंने तुम्हें परमतत्व परमात्मा के रूप में पाया ''त्रिपाद् अस्यामृतं दिवि.'' जिसे कहा गया है वह वैकुण्ठ तेरा ही रूप है या तू ही वैकुण्ठ है, परमतत्व वैकुण्ठ कहलाता ही है। चेतना जिसकी नित्यसंगिनी नित्यविधेय पत्नी है वह विश्व का सर्वोत्तम तत्व सर्वोत्तम देवता है। उसे ही गीता में (13 वां अध्याय) परमेश्वर कहा गया है, उसका नित्य दर्शन ही वास्तव दर्शन या चेतना है। वह कौन है और हम लोग संसारी कौन हैं, अन्तर समझिये और हो सके तो अन्तर घटाइये, अनमोल जीवन का सर्वोत्त्म फल विशुद्धचेतन पाइये।

अब भोगों से कर्म निकालें यदि आप ईसाई हैं तो सूबर मत खाइये, वह टट्टी न खाये तो भी मत खाइये, वह हिन्दुओं का देवता है, उसी ने आप के लिये धरती दी है, हिन्दुओं के सारे देवताओं को परमात्मा मान कर गिरजा घर में और अपने घर में रोज प्रणाम करिये। सारे देवताओं पर ही आप का जीवन निर्भर है। ईसा मसीह को विश्वास था कि अपने जीवन

के सारे पहलुओं से जुड़े सारे तत्त्व आप पहचान लेंगे और उन्हें आदर देना सीखेंगे। आप की इस योग्यता का भरोसा होने से ही केवल आप की समझदारी के लिये उसने शूली की सजा झेली है। इसलिये नहीं झेली है कि आप गोश्त खायें, शराब पियें और बेशर्मी से नाचा करें। परमात्मा ने बाइबल में कहा है कि तुम जो भी अन्न खाते हो वह मेरा ही मांस है जो पीते हो वह मेरा खून है। इस वचन से जो अच्छी सीख मिलती है वह ऐसे पादरी से लीजिये जो मानवी बुराइयों से बदनाम न हो, यमनियम संयमों का पालन बाइबल के इशारों से करता हो, गैर ईसाइयों से भी अच्छाई लेने के लिये उतना ही या उससे भी अधिक तैयार हो जितना भेंट मे आयी नवयुवतियों के लिये तैयार रहता है। आपने वपतिस्मा पढ़ा है तो पहले इन चार अक्षरों का सही माने समझिये, फिर अपने दो हजार वर्षों से अधिक के इतिहास में पता लगाइये कि माने न समझ पाने से गुनाह कितने हुए हैं और मुक्ति के मार्ग में क्या प्रगति हुई है, मुर्दे क्यों गाड़े जाते हैं, फैसला कब होगा, कुछ फैसले अभी तक हुए या नहीं, नहीं तो क्यों ?

यदि आप मुसलमान हैं तो गाय मत खाइये, गाय भी सूबर की तरह टट्टी खाती है, इसे अनदेखी करके हिन्दू उसकी पूजा करते हैं, आप खा जाते हैं, कौन सी अनदेखी अच्छी है, गौर फरमाइये। गाय में आज तक आपको इस्लाम नहीं मिला, हिन्दूओं में तो मिलेगा ही नहीं। अरब का भी कोई इनसान काफिर हों तो उसे काट दीजिये, इससे अल्लाह आपको जन्नत देगा, लेकिन पहले पता लगाइये कि आप में काफिरी कितना प्रतिशत मौजूद है, अगर हो तो उसे मिटाकर ही किसी को काटिये। हिन्दुओ की कितबों में ऐसे कुछ सन्दर्भ है जिनका मतलब निकलता है कि बिना काफिरी के आज तक कोई इनसान जन्मा ही नहीं। इस पर आप अपने विचार बनाइये। कुरआन में बहुत सी अच्छी सीख भरी है, वह मिली कितनों को यह नोट कीजिये। उसे पढ़कर कितने कातिल बने हैं यह भी नोट कीजिये। कुरआन से पहले इस दुनियां में कातिली की ट्रेनिंग देने वाली और भी किताबें हुई हैं, उनके नाम नोट कीजिये। वे सारी किताबें धर्मग्रन्थ ही थीं, इससे उन्हें जान लेना आप का फर्ज है, वे सारी जलायी नहीं जा सकीं, अभी भी मौजूद हैं इससे अक्लमन्द इनसान होने के नाते उन्हें समझना आप का फर्ज होता है।

कुरआन से मिली समझ को मजबूती भी मिल सकती है इससे वह सब आपको पढ़ना है। जब तक आपको इस्लाम पूरा न मिल जाये तब तक नयी औरतों की तरह नयी अच्छी किताबें पढ़ते ही जाइये। आपको जो कलमा पढ़ाया जाता है वह केवल गुमराही का नशा है। तीन में एक भी कलाम समझदारी का नहीं है। यह बात आप खुद ही समझ सकते हैं अगर अल्लाह ने अक्ल दी हो तो। विज्ञान बहुत प्रगति कर गया। आप कुरआन का पत्थर गले में बान्धकर ना समझी के सागर के तल में सो रहे हैं। पहले आप अल्लाह की नजरों में चढ़ने की कोशिश कीजियं। आपके अगल बगल अल्लाह ने जन्नत और दोजख बना रखे हैं। अभी जो पसन्द हो वह लीजिये।

अगर आपने गाय की हड्डी न चबायी हो, मुर्गे का सुरवा न पिया हो तो ये बातें अच्छी लगेंगी। आप जन्नत जाने के लिये, अल्लाह के हुक्म से, मसालों के अन्दर थोड़ा सा गोश्त भी पसन्द करते हैं, अच्छा है, अल्लाह ने कुरान में अलिफ् लाम मीम् उतारा है, उनका माने जानने की जरुरत नहीं है, ऐसे और भी बहुत हरुफ आये हैं, उनका माने भी एक मुसलमान के लिये जानना जरुरी नहीं है। उनका माने अल्लाह को मालुम होगा, लेकिन उन लोगों को बतलाना वह नहीं चाहता होगा जिन्हें उसने काफिरों को काटने का ठेका दिया है। जब धरती के सारे काफिर कट जायेंगे तब उनके मायने पढ़ाकर अल्लाह आप को जन्नत में उतारेगा, तभी आपको पता चलेगा कि पहले आपको क्यों नहीं पढ़ाया था। कुरआन दिखलाकर बहुतों को मुसलमान बनाया गया, अब उन्हें पढ़ना भी है, पढ़ने की ट्रेनिंग दिये बिना ही मुहम्मद साहब को पढ़ाया गया था, अब भी बिना ट्रेनिंग के ही लोग उसे पढ़कर कुछ–कुछ काम चला रहे हैं। फिर भी उन्हें समझना चाहिये कि विद्वान् भारतीयों से, पूरी श्रद्धा से, वाक्यविद्या पढ़े बिना सौ वर्षों तक भी कुरआन समझ में नहीं आयेगा। अगर आप मुसलमान हैं तो यह जानता निहायत जरूरी है कि इस आसमानी किताब ने कितनों को दोजख का रिजर्वेशन दिलाया है।

आप सिक्ख हैं तो गुरु नानक के तीन अक्षरों वाले नाम का माने पहले समझिये। बाद वाले नौ गुरुओं ने वह माने कितना समझा, समझाया, पता लगाइये, आप शिष्य न होकर सिक्ख क्यों हो गये, क्या शिक्षा ली

और शुरु से आज तक क्या-क्या करतब किया। गुरुओं ने कुछ छोड़ा तो वह छोड़ने लायक भी था क्या ? छोड़ने से सफलता मिल गयी क्या, अब इन्दिरा गांधी को मारने के बाद आप को इस देश समाज और राष्ट्र के प्रति क्या कर्तव्य बच रहा है। मनमोहन सिंह की पगड़ी उन्हें कहां पहुंचायेगी। गुरु ग्रन्थ साहब की पूजा किस ने जारी की, ग्रन्थ की सही पूजा कैसे होती है। निराकार को निरंकार क्यों कहते हैं। आपकी अलग खिचड़ी का स्वाद क्या है ? सिक्खों की आजकी अहमियत क्या है ? महाकाल ने आप के हाथ में कड़ा डालकर क्या संकेत दिया था, वह संकेत आप आज कैसे पढ़ते हैं गुरु गोविन्द सिंह के बच्चों ने उसे कैसा पढ़ा था ? उनका कोई सन्देश आपको मिला हो तो और वह यदि आज के रिश्वती समाज के काम का हो तो प्रचारित कीजिये।

मानवता विभाजित होती रहती है कर्तव्य को लेकर, काल कर्तव्य को घटाता हुआ मिटा देता है, मानव उसे एक अबोध शिशु की भांति भूल जाता है, फिर भी विभाजन की सन्तान बढ़ती है। सन्तान में पिता के गुण कम ही मिलते हैं, दूसरे जो गुण मिलते हैं उन्हें हम ईश्वर की झांकी कह सकते हैं, दूसरे लोग उन्हें प्रारब्ध कर्म कह सकते हैं-''कर्मेति मीमांसकाः'' दोनों में आप एक चुन सकते हैं या अविरोध प्रमाणित कर सकते हैं। किन्तु दोनों से ज्यादा जरूरी है समयोचित कृत्य। वह कृत्य आप ठानेंगे अपने अहम् के अनुसार। अपने अहम् को सुधार लेते तो अच्छा होता है। अन्यथा आप भी एक विभाजन बने बैठे हैं। आपके अहम् के अन्दर जो सामयिक है, उसके भीतर जो शाश्वत है उसे ढूँढ़िये, फिर कर्तव्य कीजिये। बहुत मजा आयेगा, विश्व की सारी मानवता एक मिलेगी, सृष्टि के सारे पहलुओं की उपयोगिता भी दीखेगी।

आइये देखते हैं उस शाश्वत को और उससे अपनी दूरी को। हम अपने मानवीय सारे भेदों को नकाराते हुए स्वयं को एक मानव कह सकते हैं फिर भी अपने कृत्यों को नकार नहीं सकते, एक सरकारी कर्मचारी होने के नाते, भले पाप हो, नरक हो पर रिश्वत की ओर से मुंह नहीं फेर सकते। सरकार रिश्वतियों को सजा देती है रिश्वत बटोरने में उनकी अयोग्यता के लिये न कि रिश्वत के लिये। यह सुलझी गुलामी का फन्दा जो अंग्रेजी गुलामी से ज्यादा मजबूत है वह है आपके अहम् की पहली

पहचान। इसे भूल कर ही आप खुद को हिन्दू मुस्लिम सिक्ख या ईसाई मानते हैं। नयी उपधियों को हम देर से स्वीकार करते हैं फिर भी हृदय से उसे मानते तो हैं ही। परस्पर विरोधी अनेक भावनायें हमारे हृदय में आराम से विश्राम पाती हैं। हमारा प्रथम कर्तव्य होता है भीतरी विरोधों को घटाना और मिटाना। हम उस कर्तव्य को तम्बाकू के नशे में डुबोकर स्वस्थ हो जाते हैं, काल हमें आराम से उठा लेता है। पूछने पर हम अपना परिचय देते हैं सनातनी हिन्दू, जबकि सनातन में परस्पर विरुद्ध कुछ नहीं होता। विरुद्धों का तो उदयलय होता रहता है हमारे मन में जिसे हम अहंकार भी कहते हैं। विरोध ही उनका काल होता है। चोर या तो पक्का चोर होगा या सामान्य नागरिक होगा, बीच की स्थिति में वह ज्यादा देर ठहर नहीं पायेगा। प्रकृति का यह नियम आपको उस शाश्वत की पहचान का एक अच्छा प्रोत्साहन है।

वह शाश्वत आप स्वयं हो सकते हैं या वह आपका कोई खास स्वभाव हो सकता हैं। उसे न समझ पा कर आप सदा संकटों में रहते हैं। उसे समझ लेने से आगे आप वही चाहेंगे जो आपका सबसे अच्छा है, छोटी बातों से आप का मुंह फिर जायेगा। तब आप विश्व के एक महान् आत्मा जाने जायेंगे। आगे आप पर लगा अज्ञान का सारा आवरण वैसे ही मिटता जायेगा जैसे अभी बहुत कुछ मिट गया है। संसार से भी हम उतनी शिक्षा ले सकते हैं जितनी वेदों से मिलती है, फिर भी अन्तर है, **आचार्याद्धि अधिगता विद्या साधिष्ठम् प्रापत्** सद् आचार्य के मुख से प्राप्त विद्या ही परम पुरुषार्थ प्राप्त कराती है। भगवान् विश्व के प्रथम सद्आचार्य हैं, यह सारा विश्व उनका श्रीविग्रह है, विग्रह में हमारे लिये बहुत से अच्छे संकेत भी हैं। दत्तात्रेय ने विश्व के चौबीस गुरुओं के संकेत से ही शिक्षा ली हैं।

इच्छाओं में सुधार परम कल्याण का प्रथम संकेत है। ज्ञान का विकास इच्छाओं का नियन्त्रण करता है। हम जैसे-जैसे जड़ चेतन विभाग पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं वैसे-वैसे जड़ पदार्थों पर हमारी स्पृहा घटती जाती है। किसी जटिल शास्त्रीय प्रश्न का हल निकलने में जो आनन्द मिलता है वह झूलने में, हवाई यात्रा में, षड्रस भोजन में या प्रमदाऽऽलिंगन में नहीं मिलता। यह रहस्य शास्त्र व्यसनियो को विदित है। आज के क्रिकेट के खिलाड़ियों को अपनी जीत पर जो आनन्द मिलता

है वह आधा हारी पार्टी को भी प्राप्त होता है, इसी से मैदान में ही वे उनका आलिंगन करते हैं। दर्शकों को अधिक ही आनन्द आता है इसी से महंगा टिकट लेकर देखने में अपना अमूल्य समय देते हैं। खेल में जीत शारीरिक अभ्यास से होती है, अभ्यास मनोयोग से होता है, मनोयोग प्रयत्न नामक आत्मगुण से बनता है, फलतः जीत का अनुभव जिसे होता है वह नित्य चेतन तत्त्व है, उत्तम अनुभव का प्रभाव नख शिख तक देह में भी होता है वह मुखाकृति में उल्लास देता है। इसी से मुखाकृति को भावनाओं का प्रतिबिम्ब कहते हैं। इसी से वह सबके लिये दर्शनीय होती है। हमारा मन अन्दर की ओर यानी अपने ज्ञान की ओर जितना मुड़ता है, उतना ही उल्लास बढ़ता है। जैसे किसी छात्र ने रेखा गणित का कोई प्रमेय हल कर लिया, उसे एक प्रसन्नता हुई। उस प्रसन्नता का कारण समझना चाहिये। शिक्षक की दृष्टि में उसका एक स्थान बनना, कक्षा में एक स्थान बनना, आगे के प्रमेयों के भी हल होने की सम्भावना, परीक्षा में अधिक अंकों का भरोसा अथवा अपना लेखन कौशल। ये पांच कारण हो सकते हैं, इनमें एक भी अन्तर्मुखता नहीं है। उस ज्ञान का वह अधिक मूल्यांकन करे, उसका बाहरी कोई फल न सोचे, अपनी क्षमता से सन्तुष्टि हो तो उसके मुखमण्डल का उल्लास असाधारण होगा। वह उल्लास उसकी अन्तर्मुखता का संकेत होगा। यह बात विरले लोग समझते हैं कि संसार में अपने ज्ञान का आदर करना भूल कर उसके फल की तलाश में ही ज्यादा लोग होते है। इससे उनके ज्ञान का स्तर काफी नीचे रह जाता है। ज्ञान के प्रति आदर का भाव उसकी बार-बार समीक्षा कराता रहता है, जैसे कोई डण्डा हम हाथ में लेते रहते हैं तो उसे चिकना करना उसपर कोई धातु जड़ना, उसे सम्हाल कर रखना, किसी को न देना भी चाहते हैं, अन्यथा उसे किसी को दे दें या कहीं भी रख दें यह सम्भव है। उसी ज्ञान की समीक्षा और पुष्टि होती है जिसके प्रति आदर भाव होता है। विश्व में मजहबों की तादाद बढ़ने का एक यह भी कारण है कि लोग उनकी मूल धारणाओं को समझना नहीं चाहते। बहुत से निराधार मजहब भी व्यर्थ घास पात की तरह चलते हैं। मानव यदि अपनी समझ पर समझ कायम करना ठान ले तो दुनियां के आधे से ज्यादा मामले हल हो जायें।

अपने अहम् पर विमर्श के लिये पहले अपनी, केवल अपनी समझ पर समझ कायम कीजिये। इससे आपके अहम् की शाखाओं की शोभा बिगाड़ रहे दम्भ मान मोह मद नामक सारे गीध चील काक बक सदा के लिये दूर हो जायेंगे और सद्भाव सौरभ बिखेर रहे सिद्धान्त कुसुम वहीं खिलने लगेंगे। जो सिद्धान्त अभी आपके परिचय से परे हैं वे आपके निःश्वास बन जायेंगे। स्वयं को देखना हजार गुणों का एक ही स्रोत है, स्वयं को भूलना हजार बुराईयों का एक ही स्रोत है। स्वयं को देखने के लिये अपने ज्ञान को देखिये। वस्त्र का दर्शन ही रमणी का दर्शन होता है। प्रभा का दर्शन ही भानु का दर्शन होता है। ज्ञान से अधिक मूल्यवान् पदार्थ विश्व में न है न होगा। अंग्रेजों ने भारत को कृषिप्रधान देश माना है, सो ठीक है किन्तु यह देश विवेक विस्तार का है, इस देश में अनन्त शास्त्र अनादि काल से हैं। सृष्टि के आरम्भ से ही विवेक का व्यवसाय भारत ही, करता आ रहा है। इस देश में म्लेच्छों के जमने से उनके बुरे प्रभाव से भारतीयों के हृदय में ज्ञान-विज्ञान के प्रति श्रद्धा मिटती जा रही है, यह सारे विश्व का दुर्भाग्य है। आत्मा अनात्मा का विवेक दूसरे देशों में न हुआ न होना है। इसी से मनु ने ज्ञान-विज्ञान और शील का प्रशिक्षण भारत से ही सारा विश्व प्राप्त करे ऐसा सुझाव दिया है। उनका तात्पर्य भारतीयों को सारे पुरुषार्थों के प्रति आदर्शवादी बनाये रखने में है। उत्तम सुझाव आदर्श पुरुषों से ही मिलते हैं।

मुहूर्त शास्त्रों में दीक्षाग्रहण का मुहूर्त भी बतलाया है, दीक्षा का फल अन्तर्मुखता ही है। आप चाहें तो अन्तर्मुखता की भी दीक्षा ले सकते हैं। किन्तु यह ध्यान रखना है कि जब-जब हम अपने विवेक पर गौर करते हैं तब दिन में सौ बार अन्तर्मुख होते हैं और दुनिया की वस्तुओं पर गौर करते हुए हजार बार बहिर्मुख होते हैं। दूकान में पहनावे का कोई बस्त्र पसन्द करते हैं तब बहिर्मुख रहते हैं। पहनावे का प्रभाव समाज पर क्या पड़ेगा यह सोच भी बहिर्मुखता है। किन्तु पहनावे के अनुकूल प्रभाव अपने व्यक्तित्व पर जो भी हो सकता है उस पर चिन्तन अन्तर्मुखता की राह है। हम समाज में भला दिखना चाहते हैं यह हमारा सौभाग्य है, यह अपने आप की ओर अपने मन की मोड़ है। किन्तु भला दिखने से अच्छा है भला बनना। भला दिखने का सुख बाहरी है, देख्ने वाले नहीं होंगे तो सुख नहीं

मिलेगा किन्तु भला बनने का सुख भीतरी है, वह सदा मिलता ही रहता है। हमें कोई रमणी मिले या न मिले किन्तु यदि कोई रमणीय मूर्ति ध्यान में रहे, उसके उपभोग की कल्पना भी हो तो हम बहुत दिन भी आनन्द में रहेंगे, फिर भी उपभोग की कल्पना क्षरण करा देती है।

उसके बाद सुख नहीं रहता। अब आइये, क्षरणोत्तर सुख का विचार कर लें। क्षरणपूर्व का भी समझ लें। जवानी से पहले कैशोर और शैशव रहता है, जवानी के बाद अधेड़पन, वार्धक्य और जरा अवस्था होती है। सौ वर्षों के जीवन को हमने छः भागों में बांटा, प्रत्येक भाग के सौ-सौ खण्ड होते हैं, प्रत्येक खण्ड का एक अलग सुख होता है, प्रत्येक सुख अमूल्य होता है। विश्व के सारे दार्शनिक और वैज्ञानिक मिल कर भी एकमत से किसी एक आयुखण्ड के सुख को वरीयता नहीं दे पायेंगे। समानता भी घोषित नहीं कर पायेंगे। इस विषय पर वे सारे स्वयं को मूढ़ पायेंगे। किसी उपाधि के आधार पर किसी उम्र के सुख को वरीयता मिल सकती है किन्तु उपाधि का क्या भरोसा है। सौ वर्ष जीवन में सुख के हमें हजारों माध्यम मिलते हैं। जवानी में तरुणी के अलावा भी सैकड़ों आलम्बन होते हैं। कोई आयुखण्ड ऐसा नहीं जिसमें सुख साधनों की संख्या कम होती है। किस व्यक्ति को किस उपाय से कितना सुख मिलता है और उसका उपाय उसे समाज में कौन सा स्तर पकड़ाता है यह जानना चाहिये।

सुखसाधन सारे लौकिक होते हैं। शास्त्रपरिशीलनजन्य प्रमाणभूत तत्त्वदर्शन अलौकिक माना जा सकता है, तत्त्वदर्शन तत्त्वनिष्ठा बन जाता है, तत्त्वनिष्ठा अपराधों की भूमिका से बहुत दूर पहुंचा देती हैं। तत्त्वनिष्ठा वांछनीय हैं। उसपर प्रत्येक मानव का अधिकार होता है, तत्त्वदर्शन से सहज विमुखता ही प्रमाद है। यह प्रमाद अपनी अनदेखी के बल पर नये-नये सम्प्रदाय मत पन्थ मजहब गढ़ता रहता हैं, तब उस विविधता को निशाना बनाकर कुछ दम्भी बोलते हैं कि तेरे यहां नाना मत पन्थ देवी देवता हैं, आदमी आप ही जंगलों में भटकने जैसा भटक रहा है, जब कि मेरे यहां ऐसा कुछ नहीं हैं, एक दम्भी को देखकर दूसरा दम्भी भी उतर पड़ता है और वह अपना दूसरा दम्भ खड़ा करता हुआ अपनी वकालत करने लगता है, आगे उन दोनों दम्भियों की भी अनेक शाखायें हो जाती है। इस संसार में चिरकाल से ऐसा ही चल रहा है। यहां अल्पज्ञ, स्वार्थी

समूह कहता है कि हमें तो इन तर्क कुतर्कों के जंगल झाड़ से कोई मतलब नहीं है। अपने बालबच्चों की रोजी–रोटी जुटा लूं वही बहुत बड़ी बात है। अल्पज्ञों में रिश्वती ज्यादा होते हैं। रिश्वत उनका धर्म होता है, उस धर्म के पालन में सारे विभाग गुप्त प्रशिक्षण जारी करते हैं। केवल नोट रिश्वत में नहीं चलते। बहू–बेटी–बहनें भी उनके घर भेजनी पड़ती हैं। तब नौकरी मिलती है। यह बात समाज में ज्यादा ही फैली है। उस नौकरी से रिश्वत का रोग राज्यक्ष्मा की तरह सारे समाज में फैल कर असाध्य बन जाता है। साहबों को पटाने में सफल बहू बेटियों का आत्मविश्वास बढ़ता है। तब वह देवी देवताओं को ठगने के लिये स्वयं सजधजकर थालियां सजाकर देवालयों तक पहुँचती हैं। आगे अज्ञान की असंख्य शाखायें बढ़ती हैं। संसार भी बढ़ता है। तत्त्वदर्शन की उपेक्षा से ही रौरवपर्यन्त संसार बढ़ता है। प्रभु की कृपा से बना मानव तत्त्वदर्शी होता है। अपने पापों की जंजीर पकड़ कर धरती पर आया वह चरम रिश्वती होता है।

प्रजातन्त्र में मतदान वह भी करता है। उसकी संख्या सदा ही ज्यादा होती है। उसे रिझाने के लिये प्रत्यशियों को अपनी गलत भूमिका बनानी पड़ती है। घातक धर्मनिरपेक्षता का बीज यही है। शिक्षातन्त्र को चुस्त दुरुस्त करने से आयी सामाजिक पवित्रता कुर्सियों को भी शुद्ध कर सकती है।

अस्तु, बहुत देर से हम कर्मों को भोगों से अलग पाने की तरकीब सोच रहे हैं। उसके बिना संसार का सिलसिला टूटने का भरोसा नहीं होगा। कर्म अधिकांश प्रिय होते हैं, उनका अनुभव भोग मानना होगा, भोग होने से कर्म सारे प्रारब्ध के फल होंगे, तब सारे कर्मों को पिछले कर्मों के ही अधीन होने से कर्ता स्वतन्त्र नहीं माना जायेगा, उसे प्रयोज्य मानना पड़ेगा, तब कर्मफल कर्ता को न मिल कर प्रयोजक को, परिस्थितियों के नियामक परमात्मा को, मिलेगा। तब संसार बन्धन को बिना कारण के मानना होगा। तब मोक्ष का उपाय भी नहीं हो पायेगा। सो ठीक है, ऐसे प्रश्नों का समाधान सामान्य विशेषनियमों से होता है। प्रारब्ध हमारे अगले सारे कर्मों का हेतु अवश्य होता है किन्तु वह एक सामान्य हेतु होता है, उसकी हेतुता सामान्य कार्य की ही होगी, असामान्य कार्यों के लिये एक असामान्य कारण हुआ करता है। तभी वह हो पाता है, मान्यता उसी

की होती है। पचास वस्तुओं वाली दुकान से हम कोई एक वस्तु थोड़ी सी लेते हैं। उस क्रय में हमारी सीमित इच्छा कारण होती है। दुकान, विक्रेता, तराजू, समय और वाणी भी सामान्य कारण हैं, उनका उल्लेख विशेष आवश्यकता पर ही होता है, अन्यथा नहीं। ऐसे ही हम जो भी असामान्य कर्म करते हैं उनके प्रति हमारी विशेष इच्छा कारण होती है, उस इच्छा के प्रति हम स्वयं कारण होते हैं, प्रारब्ध नहीं। प्रारब्ध तो उक्त दूकान की तरह एक सामान्य कारण होता है। इस तरह अपने सारे कर्मों के प्रति हम निजी इच्छा से स्वयं कर्ता होते हैं, इससे उनके फल भी हमें ही मिलते हैं, उपकरण बनाने वाले शिल्पियों को नहीं।

यहाँ तक सिजदा को बुतपरस्ती से, चेतन को जड़ से और कर्मों को भोग से अलग करने का प्रयास किया, यह प्रयास आगे भी चलेगा, तभी जड़ अहंकार से ज्ञानानन्दमय चेतन को, अपने सहज स्वरूप को अलग पा सकेंगे, तब मोक्ष का मार्ग समझ में आयेगा। यह विषय साधना का है, ग्रन्थों से इसे समझना भी एक कठिन साधना है। ग्रन्थ भी नाना मतपन्थों में बंटे बहुत गम्भीर सैकड़ों हैं, वे आज की छिछली शिक्षा से कृतार्थ लोगों के वश के नहीं है। पश्चिमी मानसिकता वाले लोग बाइबल, कुरान और गीता के नाम तो ले लेते हैं। किन्तु कोई एक भी ग्रन्थ समझने में उत्साह नहीं रखते। गीता की गहराई में टिके लोग सारे मत पन्थों ग्रन्थों और उनके तात्पर्यों में एकता समझने और समझाने में सक्षम भी होते हैं। वे न तो मूर्ति तोड़वाते न धर्मान्तरण कराते न सम्प्रदाय बदलवाते हैं, वे तो जो जहाँ मिलता है वहीं उसके त्याग वैराग्य बढ़ाकर परमार्थ की ओर चला देते हैं, तब आगे बढ़कर वह स्वयं ही शान्त सन्तुष्ट कृतार्थ हो जाता है।

देहान्तर या जन्मान्तर दिन की तरह साफ सुबोध है, मोह वश हम उसे मानना नहीं चाहते, पूर्व जन्म और वर्तमान में पिछली पूंजी जो कि दाढ़ी मूंछ की तरह साफ ही दीख पड़ती है, उसके उपपादन के लिये ज्यादा तर्क प्रमाण नहीं चाहिये। जैसे कोई 32 साल का पुरुष है तो उसने 500 बार दाढ़ी बनवायी होगी। हर दाढ़ी नयी आती है, सब को पुरुष अपनी मानता है, दाढ़ी बदलने पर भी पुरुष नहीं बदलता हे, पहले वाला ही रह जाता है, ऐसे ही शरीर भी बदलते हैं तो उनका धारक, स्वयं को मैं या अहम् समझने वाला चेतन पहले वाला ही रहता है, पहले वाली दाढ़ियों की

स्मृति रहती है ऐसे ही पूर्व जन्म की वासनायें भी रहती हैं, दुनियां पहचानी सी लगती है, भले बुरे की कल्पना भी पहले जैसी ही रहती है। बच्चा पूर्व जन्म की वासना के अनुरूप ही कुछ लेता और छोड़ता है।

यद्यपि जीव के प्रत्येक क्षण में कुछ छूटता और कुछ जुटता है किन्तु इसका अनुभव उस योगी को ही होगा जिसका ध्यान अपने चित्त पर बना हो। सामान्य जन अनुमान से यह निर्णय लेते हैं कि एक गीत याद करने में जो 300 सेकेण्ड लगे हैं उनमें हर अगला सेकेण्ड पिछले सेकेण्डों के शब्दों से जुडते हुए आखिरी सेकेण्ड को पूरे गीत से जोड़ते हैं। यहां प्रत्येक सेकेण्ड कुछ अज्ञान छोड़ता हुआ नये ज्ञान से जुड़ता है। काल की तरह मन भी ज्ञान अज्ञान से जुड़ता बिछुड़ता रहता है मन ही जब अहम् बुद्धि बनता है तब अहंकार कहलाता है। सृष्टि के आरम्भ में मूल प्रकृति का जो प्रथम परिणाम होता है उसे महत्तत्व कहते हैं, इस प्रथम परिणाम का अगला जो परिणाम होता है वह भी अहंकार कहा जाता है। सात्विक, राजस, तामस भेद से इसके तीन प्रकार होते हैं। सात्विक अहंकार से दस इन्द्रियों के साथ मन की सृष्टि होती है, तामस अहंकार से पंचतन्मात्राओं की और उनसे पंचभूतों की सृष्टि होती है। राजस अहंकार शेष दोनों, की सहायता करता है।

प्रकृत में अहम्बुद्धि ही मुख्यरूप से विमर्शनीय है। खेल के मैदान में खेल रहा खिलाड़ी हर पल हारजीत की सम्भावनाओं से जुड़ता बिछुड़ता रहता है यानी अपनी पहचान स्वयं बदलता रहता है, स्वयं को नयी–नयी अवस्था में पाता है। अवस्थायें शरीर और मन की होती हैं। शरीर और मन का बदलाव ही अवस्था है। ज्ञान इच्छा द्वेष हर्ष विषाद शोक मोह आदि भाव ज्ञान की अवस्थायें हैं। ये सब मन से बनती बदलती रहती हैं और चेतन मैं जानता हूँ, चाहता हूँ, इत्यादि अपनी पहचान बदलता रहता है। अपनी पहचान चाहे हजार बार बदले किन्तु स्वयं का तनिक भी न बदलना, एक सा ही सदा रहना आत्मा का शाश्वत स्वभाव है। स्वयं को सबसे अधिक अनुकूल रूप में स्वयं जानते रहना ही इसका एक सा रहना है। यह जो इसका एक सा रहना है वह सदा विदित रहता है फिर भी हर्ष शोक आदि अनुकूल प्रतिकूल भावों के अतिरेक की स्थिति में अविदित सा रहता है। यहां अविदित सा क्यों ? अविदित ही क्यों नहीं ? ऐसा प्रश्न होगा। उत्तर

जानना चाहिये। स्वयं को समझने का प्रयत्न करना चाहिये, इससे जीवन आनन्दमय बन जायेगा। दुःख सारे रफूचक्कर हो जायेंगे। आइये देखते हैं, कोई पैदल चलता हो या अपनी गाड़ी चला रहा हो तो वह छः बातों पर अपना चिन्तन तेजी से बदलता रहता है। रास्ते की सही पकड़, स्पीड, साईड, टाइम, पहुंचने पर कृत्य और उसका अनुकूल फल इन छः में अन्तिम पर उसकी पकड़ ज्यादा होती है क्योंकि वह सुख होता है और सुख आत्मा का स्वरूप है, तो मानना पड़ता है कि व्यक्ति स्वयं को भूलता ही नहीं, अन्य विषयों में मन रहने पर भी स्वयं का ध्यान रहता ही है बल्कि मानना चाहिये कि स्वयं का ध्यान ही मन को अन्य विषयों से जोड़ता तोड़ता रहता है। लक्ष्य का ध्यान स्वयं का ही ध्यान होता है, सारे लक्ष्य स्वरूपभूत सुख से जुड़ें होते हैं, स्वरूप भूत सुख की विशुद्ध प्राप्ति के लिये सारी अगली चेष्टायें होती हैं। यदि हम स्वरूपभूत सुख की पूरी प्राप्ति कर लेते तो न हमारा शरीर होता न इन्द्रियां होतीं न इनकी कोई आवश्यकता होती। इन्द्रियों से मिले विषय सुखों से ज्यादा और उत्तम सुख स्वरूपानुबन्धी ही होता है। जब हम सुख को स्वरूपानुबन्धी कहते है तो वह स्वरूप से अतिरिक्त मालुम होता है किन्तु भेद नहीं है, यहां भ्रान्ति भी नहीं है। अभेद जानते हुए भी भेद का व्यवहार कभी–कभी होता है। जैसे आम का पेड़। यहां आम से पेड़ अलग मालुम होता है। किन्तु है एक ही। फल से पेड़ को अलग मानकर भेद व्यवहार सम्भव है किन्तु फल सहित ही पेड़ होता है। ऐसे ही स्वरूपभूत सुखही स्वरूपानुबन्धी कहा जाता है। संसार अवस्था में स्वरूपभूत सुख ही विषय संसर्ग से ज्यादा अनुभव में आता है। तब हम दो सुख मानने लगते हैं। एक ही सुख को दो रूपों में मानने से तत्वचिन्तन में सुविधा होती है मनोयोग से मिलने वाला सुख विषय सुख या बाहरी सुख कहा जाता है वही जब स्वयं मिल रहा लगता है तो स्वरूपसुख या स्वरूपानुबन्धी सुख कहलाता है। आत्मा के तीन रूप हैं, सत् चित्, आनन्द तीनों रूप एक साथ प्रकाशित रहते हैं। क्षण परिणामी विश्व के अन्दर ये तीन रूप सदा अनादि काल से प्रकाशित हैं। सुषुप्ति में और प्रलय काल में भी इनका प्रकाश रहता ही है। फिर भी हम जब गहरी नींद में रहते हैं, जिसे सुषुप्ति कहते हैं उस अवस्था में प्रकाश नगण्य रहता है, कुछ लोग तो प्रकाश मानते ही नहीं। सुषुप्ति का भी अनुभव और

उसका स्मरण होता है इससे उस समय भी अपना प्रकाश मानना उचित है।

यहीं से आप अपना अनुभव और बढ़ा सकते हैं, स्वयं को ज्यादा ही समझ सकते हैं। सपने सभी लोग देखते हैं, कुछ सपने जगते ही भूल जाते हैं जबकि कुछ हफ्ता भर बाद भी याद रहते हैं, दूसरों की बातें कभी गहराई तक पकड़ते हैं, कभी हल्के में लेते हैं, कोई एक बोलता है, पचास लोग सुनते हैं। सबकी प्रतिक्रिया अलग-अलग होती है, क्योंकि सबके मन का लगाव अलग-अलग होता है। फिर भी अपनी-अपनी प्रतिक्रिया ''मैं तो'' समझता हूँ'' कि ऐसी बात थी'' ऐसे तीन खण्डों में प्रकट करते हुए स्वयं को और अपनी समझ को एक रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। केवल विषय में बदलाव आता है। ज्ञान में जो बदलाव आता है वह विषयों की पकड़ में अन्तर होने से आता है, ज्ञान अपने आप में और दूसरे ज्ञानों की तुलना में एक ही रहता है, चिमटा से हम अंगार उठा सकते हैं, सांप भी उठा सकते हैं, दूसरा चीमटा भी उठा सकते हैं, चीमटा एक ही रहेगा। एक वक्ता का भाव पचास लोग पचास तरह से ले सकते हैं फिर भी वक्ता का भाव एक ही रहा करता है। पचास श्रोताओं में बीस ऐसे होंगे जो वक्ता का भाव तुल्य ही पकड़ेंगे किन्तु उस भाव के आगे पीछे के परिणामों में अन्तर मानेंगे। यहां ध्यान रखना है कि ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय इन तीनों में ज्ञाता का एक सा ही होना सर्वसम्मत है, ज्ञान में भेद विषय भेद से ही होता है किन्तु हर एक ज्ञाता अपने ज्ञान को केवल ज्ञान रूप से भी पकड़ता है, ज्ञान का संकोच विकास भी वह समझता है। इससे यह मानना पड़ता है कि ज्ञान ज्ञाता आत्मा का वह धर्म है जो सिकुड़ता फैलता हुआ विषयों से जुड़ता विछुड़ता रहता है।

यह सारा विश्व ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय इन तीन तत्वों से बना है। पहली दृष्टि में ऐसा लगता है कि इन तीनों में प्रत्येक किसी दूसरे का पूरक है किन्तु वास्तव यह है कि ज्ञाता ही सारे ज्ञेयों के सहित सारे ज्ञानों का शाश्वत निधि है। अगर किसी महापुरुष के सौ हाथी हजार घोड़े हजार गाड़ियां हैं, दस हजार कर्मचारी भी हैं। पुत्र पौत्र भी हजारों में हैं तो मानना पड़ता है कि जब वह मां के गोद में खेल रहा था तभी यह सब लिये था, बल्कि यह मानना ज्यादा अच्छा होगा कि मां के गर्भ में प्रवेश से पहले ही

यह सब लिये था। वैभव का विकास और ह्रास दोनों देखा जाता है, इससे विकास और ह्रास की सीमा और काल भी उससे जुड़ा था, ऐसा मानना पड़ता है। संयोग वियोग आकस्मिक से लगते अवश्य हैं किन्तु गौर करने से मानना पड़ता है कि यह पूर्व में ही निर्धारित रहते हैं। सारे शुभ अशुभ फल पिछले कर्मों के होते हैं। कर्म सारे अज्ञान से ही होते और सीमित होते हैं। सारे ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा सबसे अधिक ज्ञानी होते हैं फिर भी उन्हें भी अपने अज्ञान से संकट होता है, उनकी भी आयु सीमा होती है। ब्रह्मा से अधिक वैभव यहां किसी को नहीं होती फिर भी उनका समय पूरा होने पर वैभव नहीं रह जाता। इस संसार में वैभव से यदि कोई बड़ा होगा तो भी वह ब्रह्मा की तुलना में अति क्षुद्र ही होगा। कर्म बन्धन से छूटे आत्मा की तुलना में ब्रह्मा का वैभव भी अति क्षुद्र होगा। क्षुद्र वैभवों के मोह में रहने से हम अपने उस सहज आनन्द पर ध्यान भी नहीं जमा पाते जो ''विधि–शिवसनकाद्यैर्ध्यातुमत्यन्तदूरन्तवपरिजनभावम्'' कहा गया है। पूर्व कर्मों से शरीर पाये, प्रकृतिमण्डल में भीतर ही घूम रहे अति निन्दित क्षुद्र विषयों से सन्तुष्ट जन्तु स्वयं को वैसे ही नहीं समझ पाते जैसे नशे में सो रहे लोग देशकाल भूले रहते हैं।

आप मोक्ष चाहें या न चाहें किन्तु मोक्ष की तैयारी में ही रहने से क्षुद्र बन्धनों का खतरा नहीं रहता और कोई भी दुःख हावी नहीं होता। मोक्ष की तैयारी आप को अभ्युदय की ओर तेजी से बढ़ाती हुई, वह अभ्युदय भी देती है जो ब्रह्मा के ध्यान में भी कभी नहीं चढ़ता। वह अभ्युदय भी सायुज्य मोक्ष की तुलना में नगण्य होता है, इससे वह भी प्रभु की पूरी कृपा का फल नहीं माना गया है। विषय विराग की तीव्रता क्षुद्र विषयों में आकर्षण रोकती है, तब चेतन स्वयं ही, अपनी सहज प्रकृति से ही ऊपर के लोकों की ओर बढ़ता जाता है। फिर भी उसका विराग बीच में कहीं टिकने नहीं देता। फलस्वरूप वह परम आनन्दमय परम पद ही पहुंचता है और प्रभु के बाहरी वैभव एवं गुणशील वैभव का अनुभव करता हुआ उनकी ही सन्निधि में रहता हुआ दुःखशोकों की कल्पना से नित्य दूर रहता है। यही मोक्ष है, कोई यदि यह न चाहे तो भी ऊपर के ही लोकों में दुःखों से बचा रह सकता है।

विषयविराग क्या है, यह कैसे हो, ऐसा प्रश्न स्वाभाविक है। उत्तर है कि जातीय संस्कार विषयों से जोड़ते है, संस्कार जीवन भर रहते हैं, ऐसी स्थिति में विषयों से अलगाव कैसे सम्भव होगा, बैल को भूसा से वैराग्य हो जाये तो वह क्या खायेगा और कैसे जियेगा, मानव भी जीवन के लिये विषयों से जुड़ता ही रहेगा, अन्यथा, उसका जीवन रुक जायेगा, तब वह कोई पुरुषार्थ भी क्या कर पायेगा, प्रश्न अच्छा है, देखिये जेल में जेल की ही रोटी मिलती है, वह अच्छी भी हो सकती है किन्तु पराधीनता में स्वाद नहीं मिलता, इसी से हम आजादी चाहते हैं।

आजादी में हम अपने गुणों का विकास कर सकते हैं, अभ्युदय की ओर बढ़ सकते हैं। जातियां शरीर की होती हैं, शरीर बार-बार बदलते हैं, वर्तमान शरीर पर भरोसा हम चाहे जितना भी करें पर वह साथ छोड़ेगा ही, जब तक है तब भी हर रोज हर पल बदल रहा है, विचार, संकल्प, इच्छा और प्रयत्न बदलते ही रहते हैं, टिकाउपना कहीं नहीं है, इस बदलाव की बहती गंगा में हम भी गोता लगाकर खुद को शुद्ध कर सकते हैं। परिणामी भावों में टिकाउपने की कल्पना हमारी पहली जड़ता है यही बहुत से मोह पालती है। इसे छोड़कर जारी परिवर्तन पर ध्यान रखना पहली शिक्षा है। यदि हम संसार के परिवर्तनों पर ध्यान रखने लगें तो बहुत सारे प्रश्न स्वयं हल हो जायेंगे। हम अपने राग की समीक्षा कर लें, बाद में विराग का उपाय ढूंढेंगे। परिवर्तनशील संसार में राग कहाँ होता है? जिससे हम अपना मन जोड़ते हैं वह तो तुरन्त बहुत दूर चला जाता है, वह मिलता कहां है? जो मिलता है वह भी बहुत बदल जाता है। बदलाव भी पसन्द हो यह अलग बात है किन्तु पहचान जब बदलती है तो राग किससे होता है यह जानना है। फिर शरीर की अवस्था के साथ पिछले राग छूटते हैं और नये जुटते हैं, इससे मानना पड़ता है कि सारी ही आवश्यकतायें शरीर को या शरीर के माध्यम से चेतन को होती हैं।

यहाँ आवश्यकता और राग मे अन्तर भी समझना है। आवश्यकता से हम भोजन करते हैं। भोजन के समय उसका स्वाद राग उत्पन्न करता है तब हम दो ग्रास ज्यादा खा लेते हैं। यह बढ़ा हुआ दो ग्रास हमारी आयु और आरोग्य में कटौती करता है, अनेक अपराधों की ओर प्रेरित करता है। अपराधों और उनके परिणामों में भी राग बढ़ता है, धीरे-धीरे हमारा सारा

जीवन अपराधमय हो जाता है। केवल हमारी रसना राग नहीं बढ़ाती, बल्कि श्रवण, घ्राण, चक्षु, त्वक् और मन भी हमें हजारो कुमार्ग पकड़ाने में तत्पर रहते हैं। यही बात भगवान् ने गीता में कही है–

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।

पूर्व पाप अज्ञान पुष्ट करते हैं, पुष्ट अज्ञान रागद्वेष बढ़ाते हैं, उनसे अपराध होते हैं, अपराध जीवन को ज्यादा ही बिगाड़ देते हैं, अपराधी जीवन बनाये रखने का शौक कायम कर देते हैं, तब सुधार असम्भव हो जाता है। ईसा मुहम्मद के चेलों ने धर्म के उपदेश में अपने पसंद के अपराध ढूंढ़ लिये, अपराधों का सिलसिला बनाया, अपना इतिहास ही काला कर लिया, आज भी उनके चेले अपराधों को ही धर्म मानते और कुख्यात अपराधियों को गुरु कहते हैं। ऐसी भूलें भारतीय पुराने सम्प्रदायों में भी हुई थीं। अब नहीं हैं, काल स्वयं दोषियों को खिलौना बनाता है।

हमारा सबसे उत्तम स्वार्थ है आत्मनिरीक्षण। उसके बिना जीवन व्यर्थ हो जाता है। भगवद्गीता आत्मनिरीक्षण ही सिखलाती है। दर्शन और धर्म इन दोनों का मूल है आत्मनिरीक्षण। इसके अभाव में ही इन दोनो के भ्रामक भेद फैलते हैं। आत्मनिरीक्षण ही सारे दर्शनें को, सारे धर्मों को एवं दर्शनों के साथ धर्मों को भी ठीक से जोड़कर मानव मात्र को सुख शांति की ओर अग्रसर करता हैं आत्मनिरीक्षण से बड़ा कोई पुण्य कर्म नहीं है। स्वयं को देखिये, अकेले देखिये, अकेला देखिये, विश्व की सबसे अच्छाई आप में है, परमात्मा के सारे गुण आपमें हैं, उन्हें देखिये तो सही, जा के देखिये, बत्ती जल रही है, पूरा प्रकाश है, ऊपर–नीचे के सारे आवरण हटा कर देखिये, आवरण जो आप ने लिये हैं वे तनिक भी अच्छे नहीं हैं, कई टुकड़ों के जुटने से बने हैं, सारे जोड़ छटकते हैं, टुकड़ों के रंग फीके हो रहे हैं, आवरण सारे ही फिसलते, खिसकते, गिरते रहते हैं। ये कभी भी आपकी शोभा नहीं हैं, ये तो सारे ही आपकी अच्छाइयों को ढ़ककर आप को गुमराह करते रहते हैं। आप इनके बहुत से नाम जानते हैं। जानिये और एक–एक करके उतारिये। एक ही नाम से भी काम चलेगा, वह नाम है अहंकार। अहंकार स्वयं बदल–बदलकर नाना प्रकार बदलता है। जानूं, न जानूं, चाहूं, न चाहूं, करुं, न करुं, किया, न किया, छोटा, बड़ा, ऐसा,

वैसा, अच्छा, बुरा ये सारे आपके पसन्द के आवरण हैं जो आप से किसी माने में अच्छे नहीं हैं। आपको ये पसन्द क्यों पड़े, स्वयं की अनदेखी से। आपकी आदत है खिड़कियों से बाहर झांकने की, सो ठीक है, आज तक आप को बाहर वही दीख पड़ा है जो आप ने पहले से बना रखा है। वह तो आप जानते ही हैं, आप तो उस रचना से बहुत ही अच्छे हैं। अन्तहीन विश्व की रचना बारी-बारी से आप ने ही की है, वह सब आप भूल चुके हैं। सीमित प्रज्ञा से सीमित कृत्यों में आप शुरु से लगे हैं। अपनी प्रज्ञा के संकोच विकास का पता आप को स्वयं है।

अपनी सहज प्रज्ञा के पूर्ण विकास की इच्छा आपको होनी चाहिये, सारे शास्त्रों का ज्ञान मिनटों में आपको हो सकता है, सारे लोक एक साथ आप को दीख सकते हैं, संकल्प मात्र से सारे विश्व का नियन्त्रण आप कर सकते हैं, पुराण पुरुष को कुछ देर आराम आप दे सकते हैं। यदि आप अपनी पूरी क्षमता पाना चाहते हों तो धूल में खेलना छोड़िये, हाथ पैर झाड़ लीजिये। तैयार होकर एक महान् तीर्थ में पहुंच कर संकल्पपूर्वक स्नान कीजिये, हां स्नान से पहले ही दान कीजिये, जो कुछ भी आपका है वह सब तीर्थ के पुरोहित को, सद्आचार्य को संकल्पपूर्वक दे दीजिये। वह तीर्थ कौन है, कितना दूर है, उसकी क्या महिमा है ? तीर्थ वह आप स्वयं हैं, दूरी नहीं है, महिमा बहुत कुछ आप जानते हैं, उपनिषदों से जानकारी बढ़ा सकते हैं।

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा।।

स्वयं को समझने के क्रम में अपनी बीस विशेषतायें मिलेंगी। भगवद्गीता 13 वें अध्याय के 12 से 17 वें श्लोक तक के सन्दर्भ में यह विस्तार से मिलेगा। दूसरे अध्याय के 12 वें मे भी इसका सामान्य परिचय आया है।

हर व्यक्ति स्वयं को बहुत कुछ जानता है। अपने बारे में जानकारी बढ़ाना सबसे महान् धर्म है जो विश्व के सारे मानव समाज के लिये खुद की जानकारी से मजहबी अलगाव मिटाता है। यह दूसरी बात है कि वोट की राजनीति वाले ऐसा नहीं सोच पाते। धर्महीन राजनीति किसी भी देश का एक बड़ा दुर्भाग्य है। स्वयं को और स्वधर्म को ठीक से समझने से

पहले की सारी नीतियां प्रत्यक्ष नरक हैं। उन्हें नरक के रूप में हर कोई समझ सकता है। अभी देश में जितनी भी नैतिक उलझने हैं उन्हें मिटाना सभी चाहते हैं। मिटाने का जो ठोस उपाय है उसे ही हम धर्म कहते हैं, दूसरे लोग इसे अच्छी नीति कहेंगे। अधर्म में रुझान से अच्छी नीति नहीं रुचती। देश का आधुनिक शिक्षातन्त्र बहुमुख अनैतिकता से सम्पुटित हैं, इससे सामान्य लोग अच्छी नीति के समय की मांग से बाहर मानते हैं। पीत्बा मोहमयीम् प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्'' समाज अज्ञान को ही मानो अपना पुरुषार्थ मानने लगा है। हमारा शासनतन्त्र अपने यहां की बढ़ती आबादी में उत्तम गुणों का आधान नहीं कर पा रहा है, यह हमारा ही अपराध है, हम ही अपराधी संकल्पों को कुर्सी देते हैं, योग्य प्रत्याशी खड़ा करना समाज का दायित्व है, हमारे बीच सज्जन नहीं मिलते इससे खलों को ही खड़ा करना पड़ता है। सज्जन आयें कहां से, शिक्षा संस्कार और शील से सज्जन बनते हैं। साल में एक दिन सरस्वती पूजा के नाम पर कुछ सही गलत कार्यक्रम होता है, शेष 364 दिन सरस्वती की उपेक्षा और घात जारी रहता है। शिक्षा संस्थाओं में भी सरस्वती की घोर उपेक्षा अब आदर्श बन रही है। गांधी नेहरु शिक्षा का महत्व नहीं समझ पाये, बाद में भी ऊंची कुर्सियां यह नहीं समझ पायीं। गांधी जी को ईसाई धर्म अच्छा नहीं लगा, भारतीय धर्म वे समझ ही नहीं पाये, अस्पृश्यता उनहें खलती रह गयी। देश की स्वतन्त्रता के मूल में शिक्षा और धर्म का अभाव था, अब भी है। हम विदेशियों का एक भी गुण नहीं अपना सके, बुराइयां सारी शिरोधार्य कर रहे हैं, फिर भी सामाजिक विकास का दम्भ रचने में सावधान हैं।

यह सारी बुराइयां स्वयं को समझने की रुचि न होने से ही होती और बढ़ती हैं। स्वयं को हम दस मिनटों में ही समझ सकते हैं किन्तु दस वर्ष सौ वर्ष और सौ जन्म भी लगा सकते हैं। समझने के बाद कभी न भूलना और उस समझ के अधीन ही सारा क्रियाकलाप जारी रखना सुखमय और मंगलमय भी होगा। पूर्व पापों से हम अमंगल की ओर बढ़ते हैं। आत्मनिरीक्षण के अन्तर्गत अपने पिछ्ले क्रियाकलाप के वर्गीकरण का सुझाव है, कुछ कर्म देवोचित होते हैं, कुछ मानवोचित एवं कुछ आसुरी प्रकृति वालों के होते हैं। चिन्तनों के अनुरूप ही सारा क्रियाकलाप होता है।

कर्मों से अपनी पहचान आसान होती है, चिन्तनों से उससे कुछ कठिन होती है, हम अपने चिन्तनों को कम ही पकड़ पाते हैं। अपने को हम जो भी कुछ मानते हैं वह हमारा अहंकार होता है। अपने बारे भ्रान्तियां हम स्वेच्छा से पालते हैं।

नामगोत्रवयोजातिव्यवसाय रागद्वेष प्रयत्न सब कुछ शरीर के द्वारा होते हैं किन्तु शरीर तो इन्द्रियों और प्राणों की तरह हमारे उपकरण मात्र होते हैं जो बदलते रहते हैं। इस शरीर का संचालक नियामक कर्ता भोक्ता कोई और ही तत्त्व है। जो स्वयं को मैं और शरीर को मेरा कहता है। मेरा कभी मैं नहीं हो सकता यह बात हर व्यक्ति जानता है। जानता हुआ भी खुद को भूला रहता है।

हमें खुद के जानने से कोई लाभ समझ में नहीं आता। सुरापायी के समक्ष पोषक रुचिमय रसमय सुगन्ध आहार व्यर्थ ही होता है। हम अपने प्रारब्ध कर्मों से संचालित हैं, वे कर्म अपने अनुरूप आलम्बन बनाते रहते हैं, वे आलम्बन इतर वस्तुओं पर हमारी पकड़ नहीं बनने देते। मांस भक्षियों को फलाहार कभी पसन्द नहीं पड़ता, अवारा लड़का घर पर रहना नहीं चाहता, सिनेमा देख रहा व्यक्ति, व्याकरण का सूत्र समझना नहीं चाहता। सो ठीक है, किन्तु शाकाहारियों की संख्या सदा ही ज्यादा है, अवारे कम ही होते है, सिनेमा में सूक्ष्म दर्शन की भी प्रेरणायें मिलती हैं, निशाना न लगना स्वभाविक है किन्तु निशाना बैठता भी है। सत्पात्र मिलते भी हैं, स्वयं को योद्धा शूर वीर आदर्श जीवन, विद्यानुरागी, सूक्ष्मदर्शी, मर्मज्ञ, अन्तर्मुख बनाने के कई इच्छुक लोग भी मिलते हैं। मांस के इच्छुक सूरन या केले की खरीद न करें तो क्या हुआ, ग्राहकों की भीड़ वहां भी होती है। संसारी ही तो हरि भक्त होते हैं, भक्ति का पाठ पढ़ाने के लिये ही तो यह विश्व विद्यालय बना है। सर्वविद्यानिधान परमात्मा ने यहां प्रत्येक जन्तु को अपनी प्रत्येक अवस्था में दूसरों को अलग-अलग पाठ पढ़ाने के लिये पूरी योग्यता दे कर नियुक्त किया है। मानव के मस्तिष्क में श्रौततत्त्वार्थनिष्ठा सुरक्षित है। प्रमाद का पर्दा हटते ही वह चमकती है। हमारा पूर्वपुण्य कभी प्रमाद का पर्दा हटाता ही है, तत्त्व का प्रकाश मिलता ही है। आवारा बालक भी अवारपन में ही अपना अभ्युदय ही ढूंढ रहा होता है। हितोपदेश अवारे राजकुमारों के लिये ही बना है। उससे लाखों कुमार सत्पथ पा चुके हैं।

आइये, ईर्ष्या, असूया, मत्सर, स्पर्धा, दम्भ, मद से हटकर, अपनी नजरों के सामने से प्रमाद का घूंघट हटा कर खुद को खुद ही खुद के लिये समझने का आनन्द लूटना शुरु करें। उच्चस्तरीय आत्मज्ञान के बिना हम उक्त दोषों से स्वयं को हटा नहीं पायेंगे। दोषों की उत्पत्ति और विकास का क्रम, समझना ही होगा, तब उनके वारण के उपाय करने होंगे, तब हमारे स्वरूप का निखार होगा।

तब हम अपने आनन्द में स्वयं गोते लगाते हुए संसार भूल जायेगे। ज्ञान के अग्नि से पूर्व कर्म जल जाते हैं, यदि ऐसा हुआ तो परमपद मोक्ष भी मिल जायेगा।

विश्व के सारे प्राणी अपना आनन्द सीमित मानते और असीम के लिये सक्रिय पाये जाते हैं। अपराध भी असीम के लिये ही होते हैं कभी कुछ अपराधी जो अपराधों से विमुख होने लगते हैं, वे जान चुके होते हैं कि मेरे ये अपराध मेरे आनन्द को बढ़ाने के बजाय और ही घटायेंगे। इससे सारी प्रवृत्ति-निवृत्तियाँ आनन्द के लिये ही होती हैं ऐसा मानना पड़ता है। आनन्द वह तीव्र ज्वाला है जिसे किसी सूक्ष्म इन्धन की आवश्यकता होती है। जो नित्य अविकृत एकाकार स्वयं प्रकाश ज्ञानानन्ददमय ब्रह्म वेदैगम्य तत्त्व है उसे भी अपने अस्तित्व के लिये संकल्पमय एकतत्व की आवश्यकता होती है। अवश्य ही वह तत्त्व वह स्वयं है। एक तत्व में भी, एक साथ ही कार्यकारण भाव मानना पड़ता है। जैसे कोई बच्चा अच्छा सोचता है इससे सुखी रहता है। अच्छा सोच ही उसका सुख है। सुख का धारक होने से वह सुखरूप भी है। आज के वैज्ञानिक सूर्यमण्डल में ऐसा ही कार्य कारण भाव मानते हैं। वहां हीलियम नाम की कोई गैस उत्पन्न होती ईधन बनती रहती है। वह गैस ही हमें सूर्यमण्डल के रूप में दीखती है। दूसरा कोई मण्डल है नहीं। क्षण-परिणामी तत्त्व ही सातत्य से स्थायी लगता है। वह परम आनन्द तत्त्व भी ऐसा हो सकता है। उसका सृष्टि स्थितिलय संकल्प ही हमें परिणामी विश्व के रूप में उपलब्ध है। इसी से सन्तों ने कहा है-"हरिरेवजगज्जगदेव हरि र्हरितो जग्रतो नहिभिन्नमतिः।।" परमतत्त्व को समझने में शरीरी जीव दृष्टान्त बनता है, जीव को समझने में महाशरीरी परमात्मा दृष्टान्त बनता है।

परब्रह्म परमात्मा के संकल्प से विश्व की सृष्टि होती है, सृष्टि के अन्दर सामान्य और विशेष तत्त्व होते हैं। सामान्य तत्त्व सारे जीवों के लिये होते हैं, किन्तु विशेष तत्त्व कुछ ही जीवों के लिये होते हैं। जीवों को पूर्व कर्मों के फल दिलाने के लिये ही यह विश्व बना है। जिस जीव को जिस देश में जिस वातारण में जिस योनि जाति कुल में जितने काल खण्ड में जितने पूर्व कर्मों के शुभाशुभ फल मिलने वाले होते हैं उतने ही फलों के लिये उस देश काल जाति योनि कुल में जन्म मिलता है, यह बात ध्यान में रहने से ही हम अहंकार का विमर्श कर सकते हैं और आत्मकल्याण की दिशा में अग्रसर हो सकते हैं। किसी भी जीव का किसी भी योनि जाति कुल गोत्र वय अवस्था या उसके किसी भी परिणाम से या किसी भी शुभ-अशुभ कर्म से या उनके फलों से साक्षात् या स्वाभाविक या वास्तव सम्बन्ध नहीं है। शुभ-अशुभ न्यून अधिक फलों का उस पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। वह इन्द्र बन कर देवताओं पर शासन करे या क्षुद्र कीट बन कर दूर्वादल की लम्बाई नापने का कटिन श्रम करे, कभी भी उसके स्वरूप-स्वभाव प्रभाव में अन्तर नहीं आता, न ही वह ईश्वर की दृष्टि में कोई महान् या क्षुद्र होता है। संसारी जीव प्रकृति से पुरुष का या स्वरूप से अपने उपकरणों का भेद नहीं पकड़ पाता। जब कि परमात्मा जीव की इस अनादि अविद्या के सहारे कुछ-कुछ फलों का लालच देते हुए चतुर्दश भुवनों के खेतों में असंख्य कृषि कर्म करा रहे हैं। ईश्वर की एक विश्व व्यवस्था होती है, उसे युगव्यवस्था भी कहते हैं। जीवों की कर्म फल व्यवस्था उक्त व्यवस्था के अधीन ही रहती है। अभी आतंकवाद, विश्वव्यापी बनने जा रहा है, उसका नेतृत्व और सहयोग करोड़ों लोग कर रहे हैं। उनका सिलसिला घटने के बजाय बढ़ता ही जा रहा है। सरकारी कानूनों, घोषणाओं और प्रयत्नों का प्रभाव उनके लिये अनुकूल ही होता है, वर्षा, बिजली, आंधी, धूप से तिनके बढ़ते ही हैं। उनका सबसे बड़ा सम्बल ईश्वरीय संकल्प है, जीवों के कर्मफल परसने के लिये ईश्वर के हाथ के वे चम्मच हैं, यह कोई अव्यवस्था नहीं है। राजतन्त्रीय अव्यवस्था ईश्वरीय व्यवस्था के अधीन ही होती है। सारे अपराध ईश्वरीय व्यवस्था के अधीन पूर्व नियोजित होते हैं, यह बात न समझने से ही उत्तेजना और आगे भी अपराध होते हैं, वे भी पूर्व नियोजित ही रहते हैं। इससे किसी भी पक्ष या

विपक्ष में उत्तेजना और कोई भी अनुकूल प्रतिकूल गतिविधि बिना अज्ञान के नहीं होती। अज्ञानमयी कोई भी चेष्टा कल्याण पथ में सहायक नहीं होती। अज्ञान में पलना मानव स्वयं चाहता है। स्वयं को समझे बिना मरने में कोई हानि समझ मे नहीं आती। मैं क्या हूँ और क्यों हूँ ऐसा प्रश्न मानव के हृदय में उठता ही नहीं। जबकि यह एक सर्वोपरि प्रश्न है। स्वयं को समझने के बाद ही अपने योग्य अर्थ और उसके उपाय के बारे ज्ञान हो पाता है, तभी योग्य परिस्थिति की कल्पना होती है, उद्यम होता है, फल होता है।

संसार की सारी अवस्थाओं का एक नाम क्लेश है। हम अवस्थाओं को सुख मानते हैं, सुखों की कमी को सुख कहते हैं। अनन्त सुख का पता न होने से क्षुद्र सुखों से सन्तुष्ट रहते हैं। लोकान्तरीय सुख तो दूर रहे, अध्ययन का सुख भी हम नहीं चाहते, कुछ ही लोग तत्त्वदर्शन चाहते हैं कुछ ही मृगों में कस्तूरी होता है, कुछ ही गजों में मोती होती है, कुछ ही मुखों में सद्भाव का ओज होता है। सद्भाव के धनिकों की भेंट के रूप में, नित्य निर्विशेष आत्मा की वे बीस विशेषतायें प्रस्तुत हैं जो भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में स्पष्ट गिनायी गयी हैं। इसे ''ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते'' से शुरु किया गया है। हम विश्व की बहुत बातों की जानकारी रखते हैं फिर भी प्रस्तुत मूलभूत विश्वव्यापी तत्त्व का ज्ञान न होने से वास्तव जानकार नहीं हो पाते। जानकारी अधूरी रहने से उपयोग अधूरे होते हैं, अपराध भी होते हैं। अपराधों से बचते हुए प्रगति के लिये विश्वव्यापी आत्मा के साथ परम आत्मा की सर्वत्र उपस्थिति का ध्यान रहना ही चाहिये।

1-आत्मा की पहली विशेषता है नित्यत्व यानी त्रिकालसम्बन्ध। दुनियां बनने से पहले, उससे पहले और पहले से भी पहले आत्मा आज जैसा ही रहा है, आगे भी रहेगा। वह बिना ही किसी कठिनाई के हजारों शरीर धारण और त्याग कर चुका है, हजारों बार स्वर्ग और नरक अनुभव कर चुका है। पिछले अनुभवों का कुछ असर लिये ही वह अगला शरीर पाता है, इसी से प्रत्येक मानव की प्रकृति में भेद पाया जाता है। इन भेदों पर गौर करके हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। संकल्पों में भेद ही प्रकृति भेद है। पूर्वानुभवों में भेद ही संकल्पभेद कराता है। संकल्पभेद से कर्मफलों

में भेद होता है। फिर भी आत्मा में कोई भेद नहीं आता। वह अनादि काल से जैसा है वैसा ही अनन्तकाल तक रहेगा। उसका स्वरूप अवस्था गुण, धर्म, बदलता नहीं, फिर भी प्रकृति के संसर्ग से उसके उपकरण मन में अन्तर आता रहता है, प्राकृतिक सुख और दुःख बदलते रहते हैं। मन के बदलाव को मोहवश पुरुष अपने में माना करता है।

2–परमात्मा का उपकरण, हमारा उपकरण हमारा मन है, मन इन्द्रिय प्राण कर्मों के साथ हम परमात्मा के उपकरण हैं। विश्व की रचना में हमारी बहुत बड़ी भूमिका है। इसी से गीता सातवें अध्याय में हमें परा प्रकृति कहा गया है। भगवान् की अधीनता का ध्यान रहने से अपराध नहीं होते, अन्यथा अपराध होते हैं, संसार बढ़ता है, दुःख होता हैं। बच्चे और कर्मचारी अभिभावक और अधिकारी के संरक्षण में सुखी सुरक्षित रहते हुए अपने विवेक से अपना विकास कर लेते हैं किन्तु उन्हें भूलकर संकटों में फंसते हैं। परमात्मा हमारे नित्य संरक्षक हैं, हमारे पूर्व कर्मों का लेखा–जोखा रखते हुए समयोचित फल देते रहते हैं। फलों के लिये हमें स्थान और वातावरण मिलते हैं, वहां हम नये कर्म भी करते हैं, उनके फलों के लिये हमें आगे भी जीवन मिलता है। परमात्मा हमारे लिये यह सारी व्यवस्था क्यों करते हैं, इस पर चिन्तन कर हम जीवन में बहुत आगे बढ़ सकते हैं।

3–अपरिच्छिन्नज्ञानस्वभावत्व, यह हमारी तीसरी विशेषता है, 84 लाखजातियों में बटे सारे जन्तु जितनी जानकारियां रखते हैं उनसे हजारों गुना ज्यादा ज्ञान हम में सदा है, स्वर्ग आदि ऊपर के लोकों में ज्ञान और भी विकसित रहता है, हमारे कुछ शुभ कर्म हमें ऊपर के लोकों में बैठा देते हैं, वहां विकसित ज्ञान भी सीमित ही रहता है जब कि हमारा ज्ञान सदा ही असीम है, हमारे कर्म उसे बान्धकर सीमित किये रहते हैं। हमारा असीम ज्ञान आनन्दरूप है। कर्म बन्धन छूटने के बाद सीमायें मिटती हैं। बन्धन की दशा में ज्ञान के लिये मितज्ञानी गुरु, ग्रन्थों और उनके अभ्यास की अवश्यकता होती है। स्वयं के अनन्त ज्ञानानन्दनिधि होने का अहसास जारी रहने से लौकिक लाभ हानि का कुछ भी प्रभाव चेतन पर नहीं पड़ता। इससे वह अपना महान् प्रभाव प्राप्त करने के उपायों पर ही ध्यान रखता हुआ क्षुद्र विषयों से बन्धता नहीं है।

4–न कार्य न कारण, चेतन न किसी के द्वारा उत्पन्न हुआ है, न किसी का उपादान कारण बनता है, निमित्त अवश्य होता रहता है, यही उसका परा प्रकृति होना है। मिले सारे शरीरों का उपयोग वह करता रहता है इससे वह संसार का कारण कहा जाता है। वह अपने स्वरूप से संसार का कारण नहीं है बल्कि अनादि कर्मबन्धन से उसका सम्बन्ध परिणामी भौतिक तत्त्वों से होता है, सारे परिणामों के निमित्त उसके कर्म ही होते हैं, अज्ञानवश वह कर्मों का कर्ता होता है, कर्मों के द्वारा वह विश्व का भी कर्ता मान लिया जाता है। कर्म फलों के लिये ही तो यह विश्व बना है। अपराध कर्म ही तो जेल बनाते हैं। यहां हमारी प्रज्ञा का परिसीमन नियमित रहता है। कोई कहे कि सरकार कारागार बनाती है तो दूसरा कह सकता है कि अपराधी गण बनवाते हैं। ईश्वरीय जेल में कोई दुर्व्यवस्था नहीं है सिवा प्रज्ञा परिसीमन के। हम किसी से कह दें कि तेरी अक्ल थोड़ी है तो वह नाराज हो जायेगा, यदि हम उसे बेचारा लाचार कहते हुए कुछ सहायता देना चाहें तो वह सहायता भूल कर कथित लाचारी की टिप्पणी पर आपत्ति करेगा। यदि किसी सत्संग गोष्ठी में बैठाकर उसे समझा दें कि तुम सच मुच अनन्त ज्ञानानन्दनिधि हो तो प्रसन्न हो जायेगा।

4–किन्तु अपने सहज ज्ञान आनन्द के आवरण दूर करने के उपाय पर उसका ध्यान जोड़ना चाहें तो वह धीरे–धीरे उदासीन होता जायेगा। अपने कर्मों से मिले परिसीमित प्रज्ञा वाले संसार पर हर व्यक्ति की गहरी आस्था होती है। इस आस्था को शिथिल करने में हर एक सत्संगी को कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। इससे हमारा संसार बड़ा ही मजबूत लगता है। भगवान् समझा रहे हैं कि संसार की मजबूती तुम्हारे अज्ञान की ही मजबूती है किन्तु तत्त्वदर्शन के सामने अज्ञान ठहरता ही नहीं, तुमने अपने अज्ञान से दुनियां बनायी है यह मानना ही असम्भव है। इससे मानते हैं कि चेतन अपने भी संसार का कारण नहीं है।

5–सर्वत्र सकल इन्द्रिय कार्य क्षमत्व, चेतन को शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध की प्राप्ति इन्द्रियों के माध्यम से होती है, यह संसार अवस्था का नियम है, शुद्ध अवस्था में या कर्मों के छीजन के समय यह नियम लागू नहीं होता। योगीजन इन्द्रियों की पहुंच से दूर के अर्थों को भी पा जाते हैं। हम चम्मच के बिना भी खा पी लेते है, ऐसे मुक्त चेतन सारी इन्द्रियों का

त्याग हो चुकने पर भी सारे पदार्थों का विशद ग्रहण कर लेता है। विशद ग्रहण से तात्पर्य है कि वह सारे चेतन अचेतन तत्त्वों, अतीत अनागत सारी अवस्थाओं और सम्बन्ध का भी साक्षात्कार करता रहता है। जैसे सूर्य का प्रकाश सदा सर्वत्र फैलता ही रहता है वैसे मुक्त आत्मा का ज्ञान इतना ज्यादा हो जाता है कि उसके सामने ज्ञेय अर्थ अतिसीमित रह जाते हैं। उसका विभु ज्ञान सारे अर्थों से जुड़ा ही रहता है।

6–इन्द्रिय निरपेक्ष गुण ग्राहित्व, इन्द्रियों के त्याग से पहले भी, कर्म बन्धन जारी रहते भी चेतन उन विषयों को भी पकड़ लेता है जो इन्द्रियों की पहुंच से परे होते हैं। गर्भ प्रवेश, गर्भ में अपने हिसाब का शरीर निर्माण, प्रसव के बाद असामान्य रुचि, आदर्श स्पृहा, भोग्य शुभ अशुभ विषयों की ऐहिक अनुभवों के बिना भी आसक्ति, पुनः अगले गर्भ में प्रवेश आदि अवस्थाओं में चेतन लगभग वैसा ही करता है जैसा गजेन्द्र के उद्धार के लिये भगवान् हरि ने तीव्रगामी गरुड़ की पीठ से स्वयं आगे बढ़कर किया था।

7–अनासक्त सर्वधारकत्व, चेतन नित्य अनन्तज्ञानानन्दस्वरूप एवं नित्य स्वयम् प्रकाश है। अप्रमाद की स्थिति में अपने निरतिशय प्रिय स्वरूप और स्वभाव का अनुभव होता ही रहता है, इससे दोषमय नाशवान् शरीर पर इसे न तो आस्था होती है न प्रीति, फिर भी अज्ञानमय प्राचीन कर्म अपने फलभोग के लिये स्वरूप विरुद्ध शरीर धारण कराता रहता है। शरीर के अतिरिक्त अन्य भी भूमि भवन मित्र वाहन पुत्र स्त्री धन आदि उपकरण चेतन के प्रारब्धाधीन भोग के साधन होने से चेतन के द्वारा ही धारित रहते हैं, अथवा उससे जुड़े रहते हैं ऐसा माना जाता है।

8–गुणों के बिना भी गुणों का भोक्ता, शब्द, स्पर्श, रुप, रस, गन्ध के हजारों भेद–प्रभेद हैं, उनमें हमें वही मिलते हैं जिनका नियन्त्रण हमारे हृदय में घट बढ़ रहे सत्त्वरजतम गुण करते रहते हैं। बढ़ा हुआ सत्त्व उत्तम शब्द आदि गुण उपलब्ध कराता है अल्प अल्प ही देता है दबा वह निन्दित शब्दादि देता है। किन्तु चेतन अपने चित्त के गुणों का तारतम्य उनके कार्य ज्ञान सुख–दुःख उद्यम मोह आदि से तौलता रहता है। इसके लिये उसे सत्त्व आदि गुणों की आवश्यकता वैसे नहीं होती जैसे गुणमय चित्त को

होती है। इसी से माना जाता है कि वह गुणों का अनुभव करता हुआ भी न तो सत्त्व आदि गुणों की अपेक्षा रखता है न उनसे प्रभावित होता है।

9–बाह्यान्तरवर्तित्व, बाल के अग्रभाग के हजारवें भाग के समान अति सूक्ष्म चेतन तत्त्व शरीरों के अन्दर रहता हुआ भी बाहर ही रहता है, क्यों कि उसका कोई भी अवरोध नहीं बन सकता, वह तो धरती की कौन कहे विशाल सूर्यमण्डल में घुस कर अनायास उसके दूसरे छोर में निकल सकता है। स्वर्ग का वही मार्ग माना गया है। ऐसे स्वर्ग सुख के लिये भी उसे स्वर्ग लोक की यात्रा आवश्यक नहीं है, यहां से भी वह स्वर्गीय सुख पा सकता है। इसी से उसे कहा गया है–

10–अचरं चरमेव च, न चल कर भी वह चलने का फल पा लेता है। चलना इसका स्वभाव नहीं है फिर भी कर्मफलों के लिये शरीर के माध्यम से चलता भी है।

11–अविज्ञेयत्व, अति सूक्ष्म चेतन तत्त्व बाहरी स्थूल द्रव्य गुणादि की तरह समझ में नहीं आता, केवल हमारा ज्ञान सुख दुःख इच्छा प्रयत्न आदि हमारा अस्तित्व बतलाता रहता है। ज्ञान आदि के आश्रय के रूप में भी हम स्वयं को सदा उपलब्ध हैं।

12–अभिन्नत्व, यद्यपि सारे मानव पशु–पक्षी एक–दूसरे से अलग लगते हैं किन्तु यह अलगाव केवल मिट्टी का होता है, आत्मा सबमें एक जैसा ही रहता है, यही बात गीता के अध्याय 5 श्लोक 18 में ''विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि, शुनि चैवश्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः'' इस श्लोक से कही गयी है। यह अभेद यदि हमारे ध्यान में रहे तो कहीं भी किसी के प्रति राग या द्वेष या स्पृहा न हो, कोई अपराध न हो, जीवन में सदा शान्ति बनी रहे, यह चिन्तन करते रहना सदा कल्याणकारी है। यद्यपि यह स्वयम् प्रकाश है, इसकी उपलब्धि कभी बाधित नहीं है फिर भी बाहरी वस्तुओं का ध्यान इसे अनुपलब्ध जैसा करता रहता है। इसी से यह दूरस्थ और निकटस्थ भी माना जाता है। अज्ञानवश दूरस्थ और ज्ञान से निकटस्थ होता है।

13–भूतपोषकत्व, आत्मा प्राणों के द्वारा शरीरों का पोषण करता रहता है। वही वृक्षों को, तृणों को, साग सब्जियों को हरा–भरा रखता है, वही चट्टान को मजबूत बनाये रखता हैं, उसके निकलने से ही पत्थर

धीरे–धीरे मिट्टी बन जाता है। हम भारतीय पत्थरों में भी भगवान् देखते हैं, आत्मा के साथ अन्तर्यामी परमात्मा रहते ही हैं। हम पूजें या न पूजें, प्रणाम न करने मात्र से कोई अपना स्थान नहीं छोड़ देता।

14–शरीरों को बनाता, समेटता और फिर दूसरा तीसरा बना लेता है। जगने सोने के समान जन्म मरण होते हैं। यहां कहा गया है कि कोई भी चेतन चाहे उसका हाथी शरीर हो या चींटी शरीर हो, उसका मरना क्या होता है, यही कि पूरे शरीर का वह सार जिससे नाना शरीर बनते रहते हैं उसे वह अति सूक्ष्म अपने स्वरूप में खींच कर मिला लेता है, उसी से आगे के शरीर वह बनाता रहता है। सारे शरीरों का वह सार जिसे हम पंचतन्मात्रा या भूत–सूक्ष्म कहते हैं, वह चेतन से तब तक नहीं विछुड़ता जब तक तत्त्वदर्शन से संसार त्यागने की स्थिति में न हो जाये। हम हरा चना या चने की भाजी चबा लेते हैं, पशुता अपनाते हैं। एक समझदार मुसलमान उसे वैसे ही हलाल कर के खायेगा जैसे मुर्गी हलाल करता है, हलाल करना या भोग लगाना क्या है। यह समझ बना लेना कि सारे विश्व के प्रधान भोक्ता परमात्मा हैं। संसारी चेतन किसी भी आहार का ग्रहण अति अल्प काल में कर लेता है किन्तु परमआत्मा उस आहार का जो निर्माण करते हैं, आहार के योग्य बनाते हैं, किसी जीव के द्वारा चर्वित होने पर आहार बने चेतन को दूसरे तीसरे शरीरों में उसके कर्मों के अनुसार पहुंचाने में लगे रहते हैं वह उनका अत्यन्त प्रिय मधुर भोग है। उस भोग की तुलना में संसारी चेतन का भोग अति तुच्छ है। स्वतः आहार बने हम सारे चेतनों के परमभोक्ता ईश्वर के साथ जो शाश्वत सम्बन्ध है उसे न भूलें, सदा ध्यान में ही रखें जिससे हिंसा परिग्रह आदि दोषों से हम बचे रहेंगे, बस यह धारणा बना लेना और स्वयं के संग्रह परिग्रह के दोषों से सदा मुक्त रहने की कल्पना कर लेना और कल्पना को साकार करने की दिशा में प्रयत्नशील रहना ही हलाल करना या भोग लगाना है। मुसलमान का हलाल अति सीमित काल का होता है, उसका संसार ही अति सीमित होता है जब कि वैदिक संसार अनन्त अथाह नित्य आनन्दमय है। भोग लगाना वास्तव में वह है कि जिस अवाधित निर्मल आनन्द के अनुभव का हमें सदा से अधिकार है उधर की ओर बढ़ने के लिये परस्पर भोग्यत्व रूप भगवत्सम्बन्ध का एक बार आकलन कर लेना, फलतः थाली के रस से

हजारगुना अधिक निर्दोष परम रस से पहले ही छक लेना, फिर प्रभु की आज्ञा मान कर प्रस्तुत उत्तम भावना से परिशुद्ध आहार लेने का निर्णय लेना है। भोग का यह पूरा सन्दर्भ ग्रविष्णु प्रभाविष्णु च की व्याख्या है।

15–इन्द्रियों को सफल बनाना, यह चेतन तत्त्व ज्योतियों का भी ज्योति है, प्रकाश के केन्द्रों को भी अपनी सहज चेतना से चैतन्य देता है।

16–यह एक अप्राकृत तत्त्व है, तामस अहंकार के परिणाम पंचभूतों से बने तमोमय संसार से अति विलक्षण नित्य ज्ञानानन्दमय हैं।

17–ज्ञानस्वरूपत्त्व, इसकी पहचान एक ज्ञान के रूप में होती है। लौकिक सारे ज्ञानो के आश्रय के रूप में तो यह जाना जाता ही है किन्तु स्वयं भी अपने आपको जानता ही रहता है। स्वयं को स्वयं जानना इसकी खास पहचान है। यह पहचान कभी किसी से छिपी नहीं है इससे शरीर के अतिरिक्त आत्मा के होने में अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। इसी से इसे स्वयं प्रकाश भी कहते हैं।

18–फिर भी जानने योग्य सारे पदार्थों में यह प्रथम है। इसे भूलने से ही सारे अनर्थ होते हैं, संसार बढ़ता है, क्लेश होते हैं।

19–ज्ञानगम्य, स्वयं प्रकाश इस पदार्थ पर सारे प्रमाणों की पकड़ भी है। सारे प्रमाण इसे अपने–अपने विशेषणों से जोड़कर प्रस्तुत करते हैं। इससे इसके सम्बन्ध में विशाल साहित्य भी उपलब्ध है। परम कल्याण मोक्ष पथ पर उसकी बड़ी उपयोगिता है।

20–हृदिसर्वस्य विष्ठितम्, यद्यपि अपने विभु ज्ञान के द्वारा इसका अस्तित्व सर्वत्र है ही किन्तु अन्तःकरण का नियामक होने से हृदय प्रदेश में यह खुला मिलता है। इसी से दसवें अध्याय में भी कहा ''सर्वभूताशयस्थितः''

अपनी यह बीस पहचान कोई भी मानव आजीवन अपने ध्यान में रखता हुआ संसार बन्धन से छूट सकता है। कोई भी मतपन्थ मजहब सम्प्रदाय इसमें बाधक नहीं है। एक ही बाधक है विषयासक्ति जो सारे लोगों में कुछ–कुछ रहता ही है। सारे लोगों का परममित्र है विवेक, इसे ही बढ़ाने से दुःख कटते हैं, यह सन्दर्भ विवेक बढ़ाने में बहुत उपयोगी है। इन बीस पहचानों पर अपनी प्रज्ञा विकसित और सुदृढ़ करने का प्रयास जारी रखना चाहिये। यदि हम अपने विवेक का विकास प्राथमिकता के आधार

पर करें अर्थ लाभ की ओर से उदासीन रहा करें तो परम कल्याण सुलभ होने से मानव जीवन धन्य हो जाये।

अब आप अपनी अहम् भावनाओं को उक्त बीस में से किसी भी एक बाट से विवेक के तराजू पर तौल लिया करें। चूंकि हमारा अहंकार भी प्रतिक्षण बनता बिगड़ता बदलता रहता है इससे इसे तौलते रहने की भी आवश्यकता रहती है। मूछ वाले अपनी मूछ और पूंछ वाले पूंछ सम्हालते ही रहते है किन्तु बिना मूछ और पूंछ का जीवन भी आदर्श और सुखमय देखा जाता है। निरहंकार जीवन अति उत्तम होगा, यदि हम ऐसा अनायास बना सकें। इसमें कोई मेहनत नहीं है। सिर्फ अपने विशेषणों को टालते रहना है। उक्तबीस पहचान के विरुद्ध या भिन्न हम अपने को जो भी समझें वह समझ सिर्फ माया की टट्टी है, एक धोखा है, संसार कूप में गिरने की तैयारी है। हम जरा उस समझ से उदासीन होकर उसकी समीक्षा करके विवेकमय अपना कर्तव्य पकड़ लें। समाधि न लगायें, धूनी न रमायें कपड़ा न रंगायें, धर न छोड़ें, प्यारी से भी परामर्श न लें। मुंह में थोड़ी तम्बाकू की तरह अपनी पहचान की सिर्फ एक पीस, बीसों नहीं, अपने मन मे बनाये रखें तो पुरानी प्यारी मुक्ति महिला चुपके से आकर आपसे लिपट जायेगी।

इस पर लिखना बहुत था, किया अल्प में अन्त,
थोड़े सुन्दर वचन से, आनन्दित हैं सन्त।

❁ ❁ ❁

भाग- 2

अहंकार : एक नित्य विमर्शनीय तत्त्व

अहंकार संसार है, माया का विस्तार,
मुक्ति मिलेगी हो जभी इससे ही निस्तार।

मानव मानव में मिलने वाले सारे भेद अहंकार के भेद से होते हैं। एक व्यक्ति नमक ज्यादा चाहता है, दूसरा खटाई, तीसरा मीठा, चौथा फीका ही भोजन चाहता है, ऐसे ही बाहरी परिग्रह सबके अलग-अलग होते हैं। एक ज्यौतिष पुस्तकों का संग्रह किये हैं, दूसरा इतिहास की, तीसरा नीति की, चौथा विज्ञान की, स्कूली शिक्षा से हट कर भी पुस्तकों में प्रेम होता है। एक काली गाड़ी चाहता है, दूसरा सफेद, तीसरा गाड़ी पर सोचता ही नहीं, वह बन्दर पालना चाहता है। एक सौम्य दीखता है, दूसरा सहृदय, तीसरा उदार, चौथा उग्र, पाँचवाँ समाज से दूर, कोई अल्पभाषी, कोई मृदुभाषी, कोई गम्भीर चिन्तन लिये, कोई असार ग्राही, ऐसे हजारों भेद जो मानव में और पशु-पक्षी मृगों में दीख पड़ते हैं। ऐसे वृक्ष वनस्पति लताओं में कुछ बाह्य ज्ञान भी लक्षित होता है, एक योगी उनके भी ज्ञान का आकलन करके उनके पूर्वापर जन्मों का ब्यौरा प्रस्तुत कर सकता है। ये सारे भेद अहंकार के भेद से ही प्रस्तुत होते हैं। आइये, जरा वनस्पतियों से मिलें। भगवान् राम ने मानवीय व्यामोह में सीताजी का पता वृक्षों से पूछा था। भागते शुकदेव जी को वेदव्यास की ओर से वृक्षों ने प्रतिध्वनियों से उन्हें पुकारा था, ओषधियों को हम शाम को निमन्त्रित करके कठिन रोगों के लिए सुबह आदर से लेते हैं। ओषधियाँ रोगवारण में अपने शुभ संकल्प से हमारी सहायता करती हैं। आश्चर्यलाभ मिलता है। हम चाहें तो वृक्षों से बात कर सकते हैं और हाँ या ना में उनका मौन उत्तर पा सकते

हैं। यदि हम सहृदय बन जायें तो पर्वत भी हमारे हित अहित प्रश्नों के उत्तर मूक भाषा में दे सकते हैं किन्तु हम तो ईसाई, मुस्लिमों से मिलकर पढ़ रहे हैं कि मछलियों का हृदय नहीं होता, उन्हें पीड़ा नहीं होती, उन्हें मारना कोई अपराध नहीं इत्यादि। संकीर्णता का ही दूसरा नाम है, ईसायत और इस्लाम।

प्राणियों में विविधता का मूल अहंकार का भेद ही है। अहंकार का भेद पिछले कर्मों के जारी परिणामों पर निर्भर होता है। रोग होने पर स्वयं को रोगी मानना और अधिकार रहने पर अधिकारी मानना इसके उदाहरण है। यदि कोई व्यक्ति अहंकार से बचना चाहे तो रोग को केवल शरीर में और अधिकार एवं कर्तव्य को कर्माधीन प्राकृतिक मन में मानते हुए स्वयं को तटस्थ मान सकता है। यहाँ श्रीगीता का वचन ध्यान में रखने योग्य है—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।।

इत्यादि अ.14 श्लोक 23-27।।

अहंकार मिटाने का समग्र शास्त्र भगवद्गीता है। श्रद्धा से पढ़ने से प्रस्तुत निबन्ध की सारी बातें हृदय में जमेंगी।

अहंकार एक मानस व्यापार है, इसे मानस कर्म भी कह सकते हैं। कर्म व्यापार एक ही अर्थ है। यहाँ वाणिज्य के अर्थ में व्यापार शब्द का प्रयोग नहीं है। यह कर्म हमारा सदा जारी रहता है, अपराध के समय भी, शुभकर्म ध्यान, स्मरण, प्राणायाम, एकाग्रता, जप, दान, स्नान, पूजा आदि के समय भी, जब हम दौड़ रहे होते हैं तब भी, भार उठाते समय भी, विश्राम के समय भी यह मानस व्यापार सतत जारी रहता है। यह व्यापार ही हमें मानव से पशु और पशु से मानव बनाता है। योगी जड़भरत मृग शिशु के मोह में पड़ कर स्वयं को भूल गये, मृग के ध्यान में रहने लगे, ममता बदलकर अहंकार बन गयी, तभी वे मृगी के गर्भ में पहुँच गये, वहाँ मृग का शुक्रकण पाकर प्रतिबुद्ध मृग शावक बने, चूंकि यह अहंकार केवल मन से होता है, शरीर की अपेक्षा नहीं होती, मन तो जन्म से पहले भी रहता ही है, इससे चेतन तत्त्व जब भी माता के गर्भ में प्रवेश करता है तो सर्व प्रथम अहंकार ही होता है। किन्तु ऐसी समझ भी अधूरी है, वह अहंकार सर्वप्रथम इसलिए माना जाता है कि वह भावी शरीर के प्रति होता है, भावी शरीर का आदि बीज शुक्राणु के रूप में उसे जब मिलता है तभी

वह मैं मृग, पशु–पक्षी, कृमि, कीट, प्रेत, पिशाच, वृक्ष, वनस्पति, ओषधि, लता या और कुछ हूँ ऐसा अनुभव करने लगता है, मानवी के गर्भ में वह मैं मानव हूँ, ऐसा अनुभव लेता है, इतना ही नहीं, वह सूक्ष्म रूप से अपने भावी गुण कर्मशील भोग आदि का भी आभास रखता है, वह आभास ही उसकी जाति आयु और भोग नियन्त्रित करता है जो प्रारब्ध के अधीन होता है। जन्मान्तर न मानने वाले लोग इस तथ्य से बेखबर रहते हैं। किन्तु यह तथ्य सदा जानते रहने लायक ही है, अन्यथा अर्थ के सम्बन्ध में उनकी धारणा अधूरी ही रह जाती है, कर्म अधूरे होते हैं, अपराधों से दूरी नहीं बन पाती। मुक्ति की कल्पना होती ही नहीं, तब दुनियाँ को ही जन्नत और दोजख के रूप में भविष्य में बन जाने की अधूरी कल्पना ढोते चलना पड़ता है। यदि सारे मानव समान माने जायें तो उनके पुरुषार्थ भी तुल्य मानने पड़ेंगे किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। एक व्यक्ति होटल में खाने को कभी तैयार नहीं होता जब कि दूसरा प्यारी के हाथ की रसदार थाली अनदेखी करके होटल में बैठ कर खाता और खुश होता है। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं, कुछ लोग गोमांस के लिए मुसलमान या ईसाई बन जाते हैं। गोमांस के सिवा उनका न कोई इसलाम होता है न ईसा पर विश्वास। ऐसी स्थिति में खुद ही मजहब की गहराई पकड़ने में लगे लोगों से ऐसे लोगों को एक कैसे माना जा सकता है। हर मानव का स्वभाव दूसरे से अलग होता है, सबकी अपनी प्राकृतिक पहचान अलग होती है। अपनी सही पहचान हो चुकने पर हमारी संसार यात्रा पूरी हो जायेगी। ऐसा नहीं है कि हम खुद को नहीं जानते बल्कि हम खुद को केवल भूले रहते हैं। हम अपनी भूलें मिटा लें, इतना ही कृत्य है। हम अपने को अपने मन से जो भी कुछ मानते हैं वह हमारी भूल है। भूल के बिना कोई छोटी भी क्रिया नहीं होती। हमारी सबसे पहली भूल क्या है ? अनादि संसार यात्रा में हम अगणित भूलें लिये चलते और छोड़ते रहते हैं किन्तु वर्तमान शरीर पाने से पहले की हमारी पहली भूल जो होती है वह ''मैं मानव हूँ'' ऐसी भूल होती है जो पूर्व कर्मों के फल के रूप में होती है। इसी से इसे हम अपनी भूल नहीं मानते।

हम और हमारा अज्ञान

हमारी सृष्टि हमारे अज्ञान से हुई है। ऐसा नहीं है कि जन्म के बाद

अज्ञान ने हमें घेर लिया है। हमारा अज्ञान हमारे पूर्व कर्मों से ठहरता है। उसके बुरे परिणाम उसके घनत्व के अनुरूप दस मिनट से लेकर आजीवन या अगले जन्मों तक जारी रहते हैं। पोथी पढ़ने से या शास्त्र सुनने मात्र से कर्मज अज्ञान धूमिल भी नहीं होता। भगवद्‌गीता का पन्द्रहवाँ अध्याय सुनकर एक घोड़ा अवश्य मुक्त हो गया है, उसका प्रारब्ध मिटने पर था। किन्तु आजीवन गीता पढ़ते रहे अनेक सन्त भी स्वरूपनिष्ठ नहीं हो पाये। इसीसे सारे भारतीय दर्शन अपनी–अपनी मान्यता के अनुरूप साधना पर बल देते हैं। सारी साधनायें अज्ञानवर्धक कर्म मिटाया करती हैं। कर्मों के शिथिल होते ही हमारे रागद्वेष मिट जाते हैं। तब इन्द्रियों सहित हमारा मन वश में हो जाता है। ऐसी अवस्था को ही लक्ष्य करके भगवद्‌गीता में कहा है—''**रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति। प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो ह्यशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।**'' जीवन की सारी भली बुरी हलचलें हमारे अज्ञान पर निर्भर होती हैं।

आत्मस्वरूप को ठीक से न समझ पाना हमारा प्रथम या अगला अज्ञान होता है। वही हमें मनुष्य, पशु–पक्षी, मृग, देव–दानव, गन्धर्व, पिशाच, प्रेत और उनके भेद प्रभेदों के रूप में स्वयं को मानने की स्थिति पैदा करता है, वही अहंकार है, उसे अस्मिता भी कहते हैं। मानव शरीर में अहंकार का विवेचन विश्लेषण और मोक्ष मार्ग में प्रगति सम्भव है। अहंकार ही प्राकृतिक तत्त्वों में हेय उपादेय का विभाग प्रस्तुत करता है, उससे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। अहंकार ही मृत्युभय उत्पन्न करता है। वही अभिनिवेश कहा जाता है। अभिनिवेश का माने होता है स्वयं को मानव से, देवगन्धर्व दानव से या मृग, पशु–पक्षी सरीसृप से अतिरिक्त शुद्ध चेतन तत्त्व के रूप में कभी न समझ पाना। स्वयं को शुद्ध रूप में न समझ पाना जो हमारा प्रथम अज्ञान है उसे अविद्या कहते हैं। वही आगे चल कर अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश नामक चार अवस्थायें प्राप्त करता है। यदि हम उक्त अस्मिता पर अपना तटस्थ विशद चिन्तन जारी रखें तो अन्य साधना के बिना भी हमारा संसार बन्धन शिथिल होगा और मोक्षमार्ग में कुछ प्रगति हो जायेगी। यदि कोई सद्‌आचार्य मिल जायें और हमें स्वरूपनिष्ठा की कोई कला सिखला दें तो हमारे संसार का पूरा अन्त भी हो सकता है। अज्ञान में हम अधिकाधिक जन धन सम्पदा के रूप से

संसार बढ़ाने की धुन में रहते हैं। इससे गुरु की आवश्यकता नहीं समझते। मानव का वह दिन सुनहला ही नहीं बल्कि सर्वोत्तम रत्न बन जाता है जब वह अपनी अस्मिता की बखिया उधेड़ने की शुरुआत कर लेता है। ऐसी स्थिति में वह अतीत अनागत सारे मतपन्थों से बहुत दूर ऊपर अनन्त में मिलता है जहाँ प्राकृतिक कोई भेदभाव मिलता ही नहीं। मतपन्थों के झगड़े तो अस्मिता से बहुत नीचे मिलते हैं जहाँ आत्मा अनदेखा होता है। आत्मनिष्ठ बनिये, स्वरूपनिष्ठ बनिये, तभी तो आप अपना वह कर्तव्य समझ पायेंगे जिससे बड़ा कुछ नहीं हो सकता, तभी आप अपना वह लक्ष्य पायेंगे जिसे भूले रहने से नाना लक्ष्यों की कल्पनाओं में खोये रहते हैं। यदि आप तार्किक हैं तो बहुत अच्छा है, इस मार्ग में आप जल्दी सफल होंगे किन्तु यदि आप भावुक है तो लक्ष्य के निकट हैं, अपने मनोभाव की समीक्षा कीजिये। यदि धन कमा रहे हैं तो आये धन की सीमा बनाइये, इससे पहले धन एक दुर्व्यसन बना रहता है, धन को अनदेखा करके भी आप आगे बढ़ सकते हैं, तरुणी से ज्यादा प्यार है तो यह एक अच्छी बात है, उसकी अच्छाई का पता लगाइये, वह जो आपको चाहती है वही उसकी सबसे ऊँची अच्छाई है, आपकी भी अच्छाई वही है और वह सबसे अच्छी बात है कि आप उससे अच्छा कुछ नहीं मानते, प्यार की कीमत आप जानते हैं, आप बहुत अच्छे हैं कि प्यार के लिए स्वयं को न्यौछावर किये हैं, प्यार को समझने में एक कदम और बढ़ाइये बहुत आनन्द मिलेगा, कदम बढ़ाते चलिये, आनन्द लूटते चलिये। देखिये, आपका कुत्ता आपको कितना प्यार करता है, आपमें वह क्या पाता है, जो वह पाता है उससे अधिक आप क्या पाते हैं। आप बहुत पढ़े हैं, उसने सारी शिक्षाओं का सार प्यार पकड़ लिया है। हमको प्यार की तलाश करनी पड़ती है, उसे सब ओर प्यार बिखरा मिलता है। समझने की आवश्यकता है कि ब्रह्मदर्शन की दिशा में वह हमसे कितना आगे या पीछे है। अन्य प्राणियों को भी देखिये, फिर अपनी शिक्षा को तौलिये।

आप उग्रवादी हैं, बहुत अच्छा है, लेवी मत वसूलिये, बुराई के खिलाफ उग्र होना ही चाहिये। बुराई को भलाई में तब्दील करना भी सीख लीजिये। बुराई की कल्पना में मत उड़िये। आप कितने भले हैं यह सोचिये। दुनियाँ बनी तब से मानव मारे जा रहे हैं मानव के ही हाथों से। आप कुछ नया नहीं कर रहे हैं, आपका अज्ञान नया हो सकता है। अज्ञान के बिना कोई

कर्म नहीं होता, हिंसा तो होती ही नहीं। आप जान सकते हैं कि आपका औजार किसी महान् ज्ञान के हाथ में है, वही हिंसा करता है और आप अपने अज्ञान के बुरे नतीजों की धारा में बह रहे हैं। आप गंगापुत्र भीष्म की तरह, पार्थ अर्जुन की तरह, वासुदेव कृष्ण की तरह देख सकते हैं कि सारी हिंसायें अज्ञान के गन्दे नाले में हो रही हैं और हम भले हथियार लिये हों पर हैं हथियारों से बहुत दूर। आप जहाँ भी हों, जिस मानसिकता में हों, जिस आयुखण्ड में हों वहीं से समान सुविधा से स्वयं को पीछे मुड़ कर देख सकते हैं, आगे भी पा सकते हैं, अगल–बगल भी आप खुद को पा सकते हैं। जब आप खुद को पायेंगे तो जो ताज्जुब आपको होगा, आनन्द मिलेगा स्वयं को एक महान् आनन्द के सागर के रूप में जैसा पायेंगे उसकी तुलना में रमणियों के करोड़ कटाक्ष जीरो लगेंगे। आप खुद को बिना कुछ फीस के पा सकते हैं। इसके लिए ज्यादा पढ़ाई नहीं चाहिये, थोड़ा रुकिये, देखिये फिर चलिये, खतरों से बचिये, दूसरों को बचाइये, आनन्द में रहिये। अनन्त आनन्द सिर्फ आपके लिए निःशुल्क सुरक्षित है, समय का कोई नियम नहीं है। वह आनन्द क्या है और आप क्या हैं, आप वह आनन्द ही हैं, आप रवि प्रभा की तरह आनन्द विखेरते भी रहते हैं। जीवन की सारी अवस्थाओं में आप मध्याह्न के प्रचण्ड मार्तण्ड की तरह ज्ञानानन्दस्वरूप और ज्ञानानन्दमय भी हैं।

आप बहुत पाप कर रहे हैं, तो कर लीजिये, नरक में असह्य पीड़ा भोगिये। उस अवस्था में भी आप अलुप्त अनन्त आनन्द के धनी ही रहेंगे। अन्तर्मुख होकर उसका पूर्ण अनुभव करने में आज की तरह सक्षम ही रहेंगे। आप अपनी क्षमता का उपयोग आज ही कर लें, कौन रोकता है ? आपका पाप नहीं रोक सकता, वह तो आपके पीछे रहता है, सामने अनन्त ज्ञानानन्दमय आप स्वयं हैं। आपको आपसे छिपाने की शक्ति विश्व में है ही नहीं। इस प्रकट सत्य को भी बहुत कम ही लोग मान्यता दे पाते हैं। उनके पिछले कर्म दीखतों को भी अनदेखा बनाये रहते हैं और नित्य अलभ्य पर लालसा भरते रहते हैं। यह तथ्य हम कुछ लोगों के जीवन की तटस्थ समीक्षा करके जान सकते हैं, फिर अपनी भी तो तटस्थ भाव से ही समीक्षा कर सकते हैं। बाद में अपने अनादि संसार के मूल अहंकार पर ध्यान केन्द्रित करके सद् असत् का विवेचन कर सकते हैं। आरम्भ में कोई भी काम कठिन लगता है, वही अभ्यास से सरल हो जाता है आपको एक

सुयोग्य आचार्य की आवश्यकता है, वह आपको बतलायेगा कि तुम खुद से दस हाथ दूर खड़े होवो, फिर अपनी लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, वजन नापो, फिर रंग परखो, आगे देखो कि इसमें क्या सुधार होना चाहिए और सब से सुधरा रूप क्या हो सकता है, वह कहाँ से मिलेगा, अपने में क्या–क्या है। बाहर से क्या–क्या लेना है, वह बाहरी कितना ठहरेगा। हमारा भीतर क्या है, बाहर क्या है, हमें पसन्द क्या है, नापसन्द क्या है। यह सब समझ कर अपना सुधार जारी करो, एक तेरे सुधार से सारा संसार सुधर जायेगा, कैसे ? ऐसे कि तब यह भला ही दीखेगा।

पहचान : पहली और अन्तिम

दूसरों को हम अपनी पहली पहचान अपने नाम से कराते हैं। किन्तु स्वयं अपनी पहचान अपनी इच्छा से करते हैं। हमारी यह पहचान शैशव से शुरु होती है और अन्त तक रहती है। हमारी इच्छायें बदलती रहती हैं, अनुभवों के बदलने से। अनुभव बदलते हैं, परिस्थितियों से। कभी कभी भूख आती है, कभी छाया, कभी धूप, कभी हवा, कभी एकान्त और समाज की अपेक्षा होती है। तो क्या इच्छाओं से हम बदलते हैं ? कभी नहीं, हम तो अपने को सदा ही सही रूप में, आनन्दमय अवस्था में पाना चाहते हैं। तो क्या हमारी सही पहचान आनन्द नहीं है ? अवश्य है आनन्द ही हमारी सही पहचान, किन्तु हमारा अनन्त आनन्द अनुभवों के सीमित होने से सीमित मिलता है, वह भी भूख, प्यास, चिन्ता, रोग, शोक आदि से दबता है, उसे सम्हालने के लिए हमें कुछ–कुछ करते रहना पड़ता है। हमारे पिछले कर्म हमारे अनुभवों को सीमाओं में बाँधते हैं,हम इच्छा मात्र से अनुभवों का अधिक विकास नहीं कर सकते। यही हमारा संसार बन्धन है, यही कर्म बन्धन भी कहा जाता है। इस तथ्य पर हमारा ध्यान कम जाता है फिर भी स्वयं को अनन्त ज्ञानानन्दमय रूप में एक अज्ञान के पर्दे के भीतर देखा करते हैं। इसी से अपने ज्ञान और सुख की कमी का उल्लेख होने पर नाराज होते हैं। हम किसी रहस्य को समझने में स्वयं को अक्षम सुनना, मानना नहीं चाहते। स्वभाव से ही हम अपने ज्ञान का विकास पसन्द करते हैं।

एक ओर तो ऐसा है किन्तु दूसरी ओर हम ज्ञान के लिए श्रम करने में थकान का अनुभव करते हैं। थकान से हम बचना भी चाहते हैं। नकल

से परीक्षा पास करना चाहते हैं। विशद ज्ञान के लिए असामान्य मस्तिष्क की अपेक्षा होती है। वह थकता नहीं है। संसार अवस्था में हमारा ज्ञान मस्तिष्क की बनावट पर निर्भर होता है किन्तु हृदय से हम अपने अज्ञान का सीमाबन्ध नहीं चाहते। हमारी इच्छाओं को हमारी शक्ति नियन्त्रित करती है। इच्छायें शक्ति की तरह सीमित नहीं होती। अवश्य पूर्वपाप हमारी इच्छाओं को क्षुद्र स्वार्थों में बाँधते भी हैं किन्तु बँधी भी इच्छायें कभी–कभी उभरी मिलती है। अपने अधिकारी को कुर्सी से उतारना भी हम चाहते हैं, तरकीब ढूँढ़ते हैं, अपने ऊपर कोई बेमेल शासन हम दिल से बर्दाश्त नहीं करते।

तो क्या हम खुद को ठीक से नहीं पहचानते? अवश्य ठीक से पहचानते हैं किन्तु हमारा अर्जित अज्ञान हमारी पहचान पर पर्दा बनता रहता है। यह पर्दा कुसंग और लोभ से घना होता है। यदि हम कुसंग से बचें और थोड़ी अच्छी संगति भी करने लगें तो हमारा ज्ञान बहुत विकसित हो जायेगा,हम दूसरों के मार्गदर्शक बन जायेंगे। इतना ही नहीं, हम बिना पढ़े भी अनेक शास्त्रों की व्याख्या करने लग जायेंगे। अनेक भाषायें अनायास समझने लग जायेंगे। कुसंग से बढ़ता लोभ और मोह हमे क्षुद्र बनाता चलता है।

हमारी पहचान हमारी इच्छा अवश्य है किन्तु सारी इच्छाओं का मूल विषय सहज सुख ही है। हम उस सुख की तलाश में रहते हैं जो हम से कभी हटता नहीं फिर भी दबा सिकुड़ा मुड़ा चलता है हमारे पिछले कर्मों के फलस्वरूप। हम बीमार चल रहे हैं, एक योग्य चिकित्सक की तलाश है जो हमारे सहज सुख को ठीक से खोल दे, अभी तक उसका कम्पाउण्डर भी नहीं मिल पाया है।

यदि हम अपना विवेक विकसित करें तो अपनी पहचान सहज आनन्द को ही मानेंगे। फिर भी अपनी पहचान बाकी रह जाती है। हम जीवन में स्वार्थवश या किसी भावना से प्रेरित होकर जो भी कुछ करते हैं उसका प्रभाव जाने अनजाने दूसरों पर भी बहुत पड़ता है। हमारी गतिविधियों का प्रभाव माता, पिता, गुरु, बन्धु, मित्र, शत्रु, सेवक और सन्तान पर तो पडता ही है, कुछ पशु पक्षियों और जड़ जीवों पर एवं वायुमण्डल पर भी पड़ता है और हमारा सारा प्रभाव विश्व में एक परिवर्तन लाता है। वह

परिवर्तन यदि विश्व के रचयिता को वांछित होता हो तो हम उसके स्वाभाविक सेवक ठहरे। अब हमारी दूसरी पहचान सेवा ठहरी। इसी से बहुत से हिन्दू, मुसलमान अपने नाम में गुलाम शब्द जोड़ते हैं। अब प्रश्न होता है कि हमारी असली पहचान आनन्द है या सेवा। इसके उत्तर में बहुत विस्तार है फिर भी हम आनन्द के लिए सेवा करते रहते हैं। प्रिय व्यक्ति की सेवा अधिक आनन्द देती है। सारे जगत् के प्रिय परमात्मा हैं। हम अपनी सेवायें उन्हें अर्पित न करें तो भी उन्हें वह मिलती हैं। वेद हमें ''चरैवेति'' का आदेश देता है। इस वाक्य में आया इति शब्द उत्तम प्रकार का यानी शास्त्रोंक्त रीति युक्त का बोध कराता है। फलितार्थ यह है कि हम आनन्द चाहते हैं, उसके लिए कुछ-कुछ करते ही रहते हैं। वह कृत्य हम शास्त्रोंक्त रीति से यदि करें तो निरतिशय आनन्द जो अपना स्वरूप ही है वह निरावरण रूप से, अज्ञान के पर्दे से बाहर मिल जायेगा।

यदि हम अपनी इस पहचान को न भूलें तो, शास्त्रों के अभ्यास और सत्संग का भरपूर फल हमें सदा उपलब्ध ही रहेगा।

हम अपनी पहचान सहज स्वाभाविक अनौपाधिक आनन्द को कभी न भूलें, प्रमाद में न पड़ें, अपराधों से न जुड़ें, अपनी सांसारिक अवस्था को विकसित ही करते जायें, इसके लिए श्रुति हमारे आनन्द की रसमय विशद व्याख्या करती है आनन्दवल्ली में। हम संस्कृत को मृतभाषा कहते हुए छोड़ते जा रहे हैं और स्वयम् अज्ञान रूपी मौत के सूखे कुएँ में गिरते जा रहे हैं यह हमारी बड़ी विडम्बना है। किसी ने हमें आनन्द से सराबोर ब्राह्मी भाषा छोड़ने के लिए बाध्य नहीं किया है, यदि बाध्य किया हो तो हमारे पापों ने ही किया है, इससे हम उस नवजात शिशु की तरह विश्व-जननी का स्तन्य गीर्वाण वाणी अपने मुह में नहीं ले रहे जो मरने को ही जन्मा है। संस्कृत का आनन्द लूटे बिना यदि हम सौ वर्ष भी जी गये तो वह जीना मृत्यु से तनिक भी कम नहीं होगा, क्योंकि तब हमें सिर्फ वही सुख मिल पायेगा जो पशुओं को भी मिलता है। अरबों की सम्पदा हासिल होने पर भी वह आनन्द हमें मिल ही नहीं सकता जो संस्कृत के प्रौढ़ पण्डित भूदेवों को मिलता है। अवश्य ही उस आनन्द की वृद्धि करता है हमारा शील और सदाचार। स्वयं को पहचानने में औपनिषद विद्यायें हमारी बहुत दूर तक सहायता करती हैं।

शास्त्रज्ञान, सत्संग, सदाचार के अभाव में हम स्वयं को एक क्षण भी समझ नहीं पाते, इससे अज्ञान की धारा में ही बहते हुए अपराधों में लिप्त रहते हैं, इतना ही नहीं, धर्मनिरपेक्षता निभाने का संकल्प भी बनाये रहते हैं, यही हमारी आजादी है जो अन्दर काले बाहर गोरे गोभक्षी अंग्रेजों ने हमें दी है। हमारे बुरे आजाद नेता समाज में बढ़ रहे अपराधों से तनिक भी चिन्तित नहीं है, वे तो दिन रात उस विधाता को कोस रहे हैं कि जिसने उनका पेट पूरे देश को निगलने के काबिल नहीं बनाया।

अस्तु, हम स्वयं को पहचानते चलें। पहचान तो जारी ही रहती है, बस भूलें न हो पायें इसका ध्यान रहना जरूरी है। हमारा सहज अनन्त आनन्द तो है ही पर बाहरी किन बातों से हम सुख पा रहे हैं इसका ध्यान रखना जरूरी है, बाहरी कोई सुख सही नहीं होता, ऐसे ही किस घटना से हम दुःख पा रहे हैं यह ध्यान रखना है, बाहरी कोई घटना दुःखद नहीं होती, दुःख केबल हमारे अज्ञान का नतीजा होता है। अपने उस अज्ञान पर रोक लगानी चाहिए। अपनी सही पहचान पर ध्यान जमाना चाहिए। इस पर प्रथम भाग में बहुत लिखा है। विधाता ने हमें सदा सुखी रहने के लिए मानव बनाया है, अवश्य हम पुराने पापों से दुःख भी पाते हैं किन्तु वे पाप दुःख परसने के लिए पहले अज्ञान के पत्तल विछाते हैं, विधाता ने हमें वह क्षमता दी है कि उस पत्तल को टाल दें या स्वयं ही वहाँ से टल जायें। हमारी भूल ही हमें दुःखों से जोड़ती है। खुद को हम न भूलें यह हमारे वश की बात है। प्रारब्ध के भले बुरे फलों से मुह मोड़े रहना बहुत कठिन नहीं है। हम ठान लें कि हम दुःख नहीं सूंघेंगे तो दुःख आप ही हमारे पेट में नहीं घुस जायेगा। दुःखों से बच कर सदा सुखी रहने की एक कला है वह हम स्वयं भी सीख सकते हैं। कोई जानकार सिखला दे यह तो अच्छा ही है। हम स्वयं को न भूलें, बस इतना ही हमारा दायित्व है, इसे निभाने पर सारे देवता हमारी मदद करेंगे। किन्तु यदि हम भूलते हैं तो भी उतने ही दुःख हम से जुड़ेंगे जितने हमारे एकाउन्ट में दर्ज हैं। इससे प्रमाद की स्थिति में भी हमें आश्वस्त ही रहना चाहिए और दुःख की भूमिका बनते ही स्वयं को ध्यान में लाने का प्रयत्न शुरु कर देना चाहिए। वास्तव में रोगों से बचने के लिए स्वास्थ्य नियमों का पालन पहले ही से किया जाता है, चिकित्सा के समय भी वे नियम ही काम आते हैं। जीवन मिला है तो

आरोग्य भी चाहिए, मानवता मिली है तो अजस्र आनन्द भी चाहिए। प्रारब्ध बाहरी परिस्थितियाँ बना सकते हैं, वे हमारी बनायी सजायी सुधरी आन्तरिक परिस्थिति को सहसा तोड़ नहीं सकते। हमें जीवन संग्राम में या जीवन लीला में विजय की स्थिति में ही अचल रहने का प्रशिक्षण लिये रहना चाहिये।

यह प्रशिक्षण हमारे लिये कितना आवश्यक है, इसके लिए आधारभूत शिक्षा क्या होनी चाहिये, इसके लिए कितना समय लग सकता है, कितना त्याग करना होगा, यह कहाँ मिल सकती है, अभी तत्काल मुझे इसके लिए क्या करना चाहिये, यह सारा चिन्तन देरतक मन में बना रहे तो इस दिशा में कहीं से कोई प्रकाश मिल सकता है। चूंकि यह बहुत ही कीमती रत्न है, इसे घोंघा ढूँढ़ने वाले नहीं पा सकते, इससे इस अमोल रत्न के लिए आध्यात्मिक जौहरियों से तालमेल बनाते रहना जरूरी है।

मानव अज्ञान की ओर ही क्यों मुड़ता है? उत्तर ढूंढ़ने से पहले मानवीय प्रकृति के सारे दोषों को गिन लेना चाहिये। फिर बुराइयों में भी छिपी अच्छाइयों की तलाश करके उन्हें विकसित करने के प्रयत्न करने चाहिये। प्रयत्न के प्रशिक्षण की पूरे देश में विकसित रूप में उपलब्धता सुनिरूपित करना चाहिये। इतने के अभाव में गुण या दोष का निरूपण बहुत सफल नहीं होता। इतने के अभाव में पूरे देश का शासनतन्त्र विफल रहता है, सारे धर्म भी अपने फल कम ही दे पाते हैं। धर्म एक सामाजिक दायित्व है। अच्छे शासन के अधीन जी रहा मानवसमूह समाज कहलाता है। अन्यथा वह पशुओं का समूह होता है जो समाज न होकर समज होता है। देश के स्वाधीन माने गये जन्तुओं द्वारा संचालित शिक्षातन्त्र हमें समाज की सही रूपरेखा निर्धारित करने योग्य नहीं बना पा रहा है। अस्तु, अभी हम मानव की अज्ञान निष्ठा पर ही संक्षेप में समझेंगे। इसके विस्तार पर उतरना सन्दर्भ विरुद्ध होगा।

ज्योतिष शास्त्र चन्द्रमा को मन यानी सारी भावनाओं का खजाना कहता है। तिथिभेद से चन्द्रमा का बल घटता बढ़ता है। चन्द्रबल ही हमारा मनोबल या ग्रहण धारण क्षमता बनता है। तीस तिथियों के अनुसार मानवमन तीस अवस्थाओं में मिलता है। अन्य ग्रहों की दृष्टियों और योगों से मन के विषय बनते हैं। तीस को हम उत्तम-मध्यम निम्नभेद से

तीन भागों में बाँट सकते हैं। निम्नमन अधिक प्रमाद में रहता है, नशाखोरी इसी दर्जे में होती है, नशा प्रमाद के लिए ही अपनाया जाता है। नशेबाज अहंकार की समीक्षा सोच भी नहीं सकते। मध्यम दर्जे का मन व्यवहारों में उलझे रहना चाहता है। अज्ञान से ही सारे व्यवहार चलते हैं, इस तरह मध्यम व्यावहारिक अज्ञान में जीना चाहते हैं, जलजन्तु जल से बाहर नहीं जी सकता, ऐसे ही मध्यम दर्जे के लोग पहले या उत्तम दर्जे में ठहरना नहीं चाहते। उत्तम दर्जे के लोग ही सूक्ष्म चिन्तन चाहते हैं, सूक्ष्म विषय हजारों हैं, ग्रहबल दृष्टियोगों से विषय मन से जुड़ते हैं। अहंकार का शोधन अध्यात्म विद्या का प्रमुख अंग है। बृहस्पति के बल दृष्टि योगों से ही इधर रुझान बन सकता है। जन्मपत्री में और जीवन में भी अध्यात्मनिष्ठा गुरु से ही हो पाती है। बलवान् गुरु ही स्वस्थ और सुदृढ़ मस्तिक देता है। नवम पंचम पर उसकी दृष्टि शास्त्रीय रुझान और धर्मनिष्ठा देती है, तभी अहंकार का चिन्तन भी सम्भव होता है।

यह तथ्य हम शरीर रचना के आधार से भी समझ सकते हैं। हथेली देखने से मस्तिष्क की बनावट भी समझ में आती है। जिस मस्तिष्क के तन्तु सूक्ष्म और सबल होते हैं, वातकफ से दबे नहीं होते वही सूक्ष्म चिन्तन में लग पाता है। बाकी मस्तिष्क कमाने खाने में ही लगा रह जाता है। देखा जाता है कि पेट और उससे नीचे का चिन्तन ज्यादा होता है, जब कि ऊपर हृदय फेंफड़े और मस्तिष्क महत्त्व के अंग रहते हैं और निरन्तर सेवा में लगे रहते हैं। वे ही नीचे के अंगों का भी संचालन करते हैं। खेद है कि मानव ऊपर के महान् अंगों को पेट के गुलाम बनाकर रखता है जब कि पेट को ही मस्तिष्क का गुलाम बनाने में अभ्युदय निर्भर करता है। हमें शरीर रचना पढ़ायी जाती है किन्तु उसका सदुपयोग नहीं बतलाया जाता, इसी से हम मानव होकर भी पशुओं के दर्जे में रह जाते हैं।

मस्तिष्क की बनाबट, करती सुकर्म खेती।
अपराध से जुड़ी या, जीवन बिगाड़ लेती।।
पौधे समान दिखते, पर फूल फल जुदे हैं,
काँटे लिये खड़े कुछ फलभार से लदै हैं।।
हम पूर्व वासना से आरम्भ से जुड़े हैं।
डरते न मौत से हैं, अपराध पर अड़े हैं।।
अल्लाह ने जेहादी, मुस्लिम बना दिये हैं।

पर शुक्रिया गुजारिश, कुछ पाक दिल जिये हैं।।
ईसाई मुस्लिमों में, अच्छे बहुत मिले हैं।
श्रुति शास्त्र मुख द्विजों में, कायर न कम मिले हैं।।
सन्मार्ग सबजनों को, हरि ने बता दिये हैं।
कुछ पूर्व चल रहे मुख, पश्चिम बहुत किये हैं।।
हम जान लें स्वयं को, यह बात तो बड़ी है।
पर पास में सुनयना, प्यारी सजी खड़ी है।।
अज्ञान में मजा है, विज्ञान तो सजा है।
खुद को कभी न जानें, बस यह मेरी रजा है।।
मेरी रजा बदलती, मिलते सुजन कहीं तो।
हैं मार्ग बन्द सारे, आयें मिलें किधर वो।।

चलें अनन्त के लिए उसी ओर

हम समझ चुके हैं कि अपने भीतर झांकने वाले लाखों नहीं करोड़ों में कोई होते हैं किन्तु झांक कर एक जब स्वयं को पहचान लेता है तब उसमें ऐसा प्रभाव उत्पन्न होता है कि उसके आस-पास से अज्ञान स्वयं दूर हो जाता है। यहाँ पातञ्जल योगसूत्र ध्यान में रखना है कि—"**अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः**" ज्ञान का पहला फल अहिंसा होता है और उसके प्रतिष्ठित होने से पास के सारे प्राणी आपसी वैर भूल जाते हैं। वैर भूलने से वे सारे प्राणी उसीके तत्त्वदर्शन से ज्ञानी हो जाते और भक्ति की ओर स्वयं बढ़ने लगते हैं। इतना ही नहीं, मर चुके उसके पिता आदि एवं नाना आदि पुरखे पत्नियों सहित मुक्त हो जाते हैं। जैसे बम विस्फोट का प्रभाव दूर-दूर तक होता है ऐसे एक तत्त्व ज्ञान का प्रभाव भी दूर-दूर तक के प्राणियों पर होता है। भगवान् राम के तत्त्व दर्शन से ही उनके राज्य के तिनकों सहित सारे प्राणी मुक्त हो गये। अन्य अवतारों में ऐसा नहीं हो पाया, क्यों ? हमारे भगवान् राम मर्यादा में, यानी ज्ञान की मर्यादा में, अज्ञान से एकदम बचते हुए रहे, उनके ज्ञान की मर्यादा ने सम्पर्की सारे प्राणियों को मुक्त कर दिया। भगवान् कृष्ण ने अपनी ईश्वरीय क्षमता का भरपूर उपयोग, पूतना वध से ही शुरु कर दिया था, अर्जुन को भूमा पुरुष के दर्शन कराये, वे मानवी मर्यादा में कभी नहीं रहे। ईश्वर यदि मानवीय मर्यादा में रहे तो, मानवीय ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान से भी बढ़कर काम कर

जाता है। आप चाहें तो मानवता की गहरी परख कर सकते हैं। बहुतों का मानना है कि धर्मशील मानव से बढ़कर देव गन्धर्व दानवों का लम्बा जीवन भी अधिक प्रभावी नहीं होता। यदि हम मानवीय सारे धर्मों को गिनाना शुरु करें तो अन्य प्राणी भी आकर कह सकते हैं कि हमारे धर्म भी गिन लो और यदि हम यादगारी के लिए सारे धर्म लिखना चाहें तो—

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि सकलधर्माः किम् भवेयुर्गृहीताः।।

विश्व के सारे धर्म देवता भी नहीं गिन सकते। उनकी आयु और उपकरण कम पड़ जायेंगे। तब हम तय करेंगे कि पहले हम मानव के धर्म ही गिनेंगे। यह अच्छा सोच होगा। तब सवाल होगा कि किताबी धर्म पहले गिने जायें या प्राकृतिक। किताबी धर्म आज के भी उन जंगली मानवों में नहीं मिलेंगे जो न बोलते हैं न कोई सभ्यता रखते हैं न सभ्यता जानते हैं। बहुत से हिम मानव हैं जो न ईसाई बन पायेंगे न मुस्लिम। वे भी बच्चे जन्माते हैं और प्यार करते हैं, प्यार उनका धर्म है, उनका प्यार और हमारा प्यार तुल्य है या अलग यह समझे बिना हम क्या लिखेंगे। यदि हम थोड़ी भी सभ्यता वाले मानवों से शुरु करना चाहें तो स्त्री का पहले लिखें या पुरुष का, सवाल होगा, स्त्री के सैकड़ों धर्म हैं जो पुरुष में नहीं हैं, पुरुष के सैकड़ों धर्म स्त्री में नहीं हैं तब हम किताब उठायेंगे, किन्तु किसी भी किताब में यह लिखा नहीं मिलेगा कि बहुत से रोगाणु गर्भ में ही बनते हैं या बाहर मिलते हैं, गर्भ की सारी प्रक्रिया स्त्रीधर्म के अन्दर आती है, उसे समझे बिना हमारी समझ अधूरी रह जायेगी। तो क्या धर्म की कोई सीमा नहीं ? आकाश की और परमात्मा की कोई सीमा नहीं है, धर्म परमात्मा का ही एक रूप है, उसे हम सीमा में बाँध नहीं सकते। उसे थोड़ा जान कर अपना कर्तव्य पकड़ सकते हैं, कर्तव्य की परख बढ़ा सकते हैं, अपने जीवन का और विश्व सृष्टि का पूरा फल पा सकते हैं। सारे धर्मों का मूल और फल खुद की पहचान है। खुद की पहचान से सारे धर्म समझ में आयेंगे। विश्व के सारे रहस्य खुल जायेंगे। दुःखों का पता नहीं रहेगा, सारा अज्ञान एकदम मिट जायेगा। स्वयं को पहचानना परमात्मा को पहचानना, विश्व के सारे रहस्यों को पहचानना है। ऐसा कैसे ? ऐसे कि

सारा विश्व हम पर ही टिका है, स्वयं के दीखने पर ही यह रहस्य दीखेगा। स्वयं को देखना एक तरुणी का रहस्य देखने से अधिक कठिन नहीं है। उत्साह, इच्छा और संकल्प के अभाव में ही हम आज तक स्वयं को देख नहीं पाये हैं। हमको हमसे ही छिपाने वाली कोई शक्ति नहीं है। मानवता के अन्दर आत्मदर्शन भी आता है। मजहब वाले अपने यहाँ आत्मदर्शन की विद्या का पता लगा सकते हैं। सारे सम्प्रदायों मजहबों के अन्दर एक ही आत्मा खेल रहा है। ''हंसो लेलायते बहिः'' स्वयं के दीखने के बाद सारे भेद आपही मिट जाते हैं। ठीक है, बताइये कैसे देखें, आप तो देख ही रहे हैं, पर रंगीन चश्मा से, चश्मा उतार कर देखिये। आपके चश्मा में दुनियाँ सवार है इससे खुद को आप दुनियाँ मानते हैं। यह चश्मा क्या है? संसारवासनावासित मन, तो यह वासना कैसे मिटे? यह तो स्वयं मिटेगी, आप इसे अंगीकार न करें। स्वयं के बारे सारी मान्यतायें एक साथ छोड़ें। नाम, गोत्र, जाति, विरादरी, जीविका, धन भवन वाहन संकल्प-विकल्प मान्यता हित-अहित ये सारे अर्थ शरीर को लेकर ही शरीर से ही जुड़ते हैं। हम जो आत्मचिन्तन करते हैं वह भी शरीर होने से ही हो पाता है। मानव मस्तिष्क ही आत्मचिन्तन में उपयोगी होता है। हमारे जीवन में केवल यही उपादेय है। चिन्तन की सुविधा के लिए ही अन्य सारे उपकरण हैं। अपनी गलत पहचान छोड़ना और सही पहचान ध्यान में रखना मानव की सब से बड़ी अच्छाई है। अगर हम ऐसा नहीं कर पाते तो भारी धोखा है।

पिंजड़े में पक्षी पड़ा, उसमें एक निकास।
वहीं खड़ा है चाहता, पिंजड़े में ही वास।।

पिंजड़े में पड़ा पक्षी उड़ना भूल चुका होता है पिंजड़े में मिल रहे दाना-पानी की ही प्रतीक्षा में रहता है। कर्मबन्धन में पड़ा मानव भी स्वयं को शुद्धचैतन्यमय आत्मा के रूप में मानना नहीं चाहता। श्रुति-स्मृति वचनों, पुराणविवरणों, योगियतियों के अनुभवों और उपदेशों को कर्माधीन स्वानुभव की तुलना में अधिक नहीं मानता। उसे यदि पूछा जाये कि तुम कभी स्वयं को शुद्ध चैतन्यमय रूप में समझते हो या नहीं तो झट कहेगा कि वैसा अनुभव मुझे कहाँ होता है। मैं तो स्वयं को एक मानव ही मानता हूँ। उसका यह कथन स्वानुभव के बारे भी घोर अज्ञान से ही होता है। वास्तव में ज्ञान स्वयं प्रकाश है, चेतन का शुद्ध चैतन्यमय ज्ञान सभी योनियों में सदा जारी रहता है, वह छिपने योग्य नहीं है फिर भी जैसे मुह

में ताम्बूलरस की स्थिति में खाली मुह की स्वच्छता भूली रहती है वैसे ही मानव, मृग, पशु–पक्षी आदि योनियों में शाश्वत चैतन्यमय स्वानुभव दबा रहता है। सद्गुरु के सुझाव से हम उसे वैसे ही पा सकते हैं जैसे बरसाती नदी की बाढ़ में उसी नदी का स्वच्छ जल भी कभी दिख जाता है। सद्गुरु वही होता है जो शाश्वत चैतन्यमय स्वानुभव को जातीय आगन्तुक अनुभव से अलग चलता हुआ दिखला दे।

शश्वच्चैतन्यधर्मा सुरनरजनुषाम्भोगजातैर्न तोषं,
यात्यात्मा कालबद्धे रविरिव जलदानीतसामुद्रवार्भिः।
मायाबन्धोऽस्त्वनादिर्न तदपि विशदं तत्प्रभावं निरुन्धे,
सद्रत्नं सुप्रकाशम्प्रचुरपटधृतं श्रीरूपैत्येव नित्यम्।।

अनादिकाल से बन्धी माया भी आत्मा के स्वतन्त्र रहने के सहज स्वभाव और माया पर उसके महाप्रभाव को रोक नहीं पायी है। संसारी सारे आत्मा माया के बन्धन से अलग रहने और अपने सहज ज्ञान के पूर्ण विकास की स्पृहा रखते ही हैं। ये दो भावनायें ही चेतन की लम्बी संसार यात्रा जारी रखे हैं। जीवन में प्रतिपल परिवर्तन ये कराती हैं। इससे आप अपने सहज ज्ञान के विकास के साथ प्रकृति सम्बन्धों के प्रति उदासीन रहना सीखें और आत्मस्वरूप के अपार वैभव पर ध्यान रखें।

तज माया के बन्ध अन्धता अभी मिटाओ,
खुद को पाने हेतु बोध बल अभी जुटाओ।
ज्ञान सहायक एक तुम्हारा नित्य एक है,
और दूसरा अगर, मिले भी तो न नेक है।।
सारे मजहब एक तत्त्व ही बता रहे हैं,
बिन जाने हम उसे, स्वयं को सता रहे हैं।
करो द्वार सब बन्द, न आने दो विकार को,
पूजो ले उपचार नित्यता सद्विचार को।।
मैं को समझो ठीक से, मैं ही यह संसार,
ममता मैं का ही बना, पैमाना दुर्वार।
मैं यह विल्कुल शुद्ध है, आत्मा है प्रतिबुद्ध,
ममता का हो त्याग तो, चेतन मुक्त विशुद्ध।।

❋ ❋ ❋

भाग- 3

अहंकार : एक नित्य विमर्शनीय तत्त्व

अनन्तविस्तारयुता त्रिलोकी
प्रादुर्यतोऽनन्तगुणा बभूव।
साऽहंकृतिः केन बुधेन मेया
मुमुक्षया त्वत्र मतिः प्रदेया।।

अहंकार के वे सारे ही आकार हैं जो विश्व में देखे–सुने–जाने गये हैं। कौन उन सारे आकारों का वर्गीकरण भी कर पायेगा, वर्णन का तो कहना ही क्या है। फिर भी अति आवश्यक अंश अभी निकट मिल रहे हैं, उन्हें कैसे छोड़ा जाये। हमें जो जो कुछ अनुभव होता है वह हमारा विशेषण होता है, विशेषणों से हम अपने आकार बढ़े पाते हैं, तब हम महान् हो जाते हैं। किन्तु कभी अपकर्षों का भी अनुभव होता है तब स्वयं को मशक समान मानने लगते हैं। महान् कृत्य करने को हनुमान जी मशक समान रूप बनाये थे, बना लेना अलग बात है किन्तु वास्तविकता कुछ और ही होती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने और आदि कवि बाल्मीकि ने भी हनुमान जी के आकार प्रकार अवस्था एवं मान सम्मान में बहुत अन्तर बतलाये हैं। कवि तो कुछ भी लिख बोल सकते हैं, वे प्रायः यथार्थ से दूर बैठ कर ही उसकी उपासना करते हैं, समाज को अनोखे सत्य का बोध भी कराते हैं। हनुमान जी न तो कनक भूधराकार शरीर हुए न मशक समान रूप धारण किया किन्तु बहुतों को वैसा अनुभव अवश्य हुआ। हनुमान जी सारे अहंकारों के प्रतीक हैं। जीव आत्मा संसार में स्वयं को अनेक आकार प्रकारों से जुड़ता बिछुड़ता पाता है। जब कि वह रहता सदा एक रूप ही है। अपनी एकरूपता उसकी न खोती है न भूलती है। एकरूपता के ऊपर

उसकी कोई विविधता भी होती है बहुरूपिये की तरह। विविधता की झाड़ियों में चमक रही एकरूपता अनदेखी सी रहा करती है।

गौर करिये चमकता है भानु वह आकाश में।
अभी कुहरा भरा है यह मार्ग पर भी पास में।।
अभी भी रवि की प्रभा कुछ, पथ प्रदर्शन कर रही।
नहीं कुहरा फैल सकता, घेर कर सारी मही।।
अहं नाना बना इसका, एकता ही सार है।
स्वयं को ही स्वयं से ही, एक सा ही प्यार है।।
एक आत्मा एक सा ही, नित्य श्रुति का सार है।
वही है अद्वैत उसको जड़ों से क्या प्यार है।।

हम स्वभाव से कैसे हैं और स्वयं को कैसा पा रहे हैं इस प्रश्न को मन में जमाये रखकर उत्तर के लिए श्रुति स्मृति शास्त्र सन्तों से सदा सम्पर्क बनाते रहना हमारा दैनिक अनिवार्य कृत्य होना चाहिये। हम दैनिक कुछ अनिवार्य कृत्य मानते हैं उन कृत्यों के ऊपर यह कृत्य ही रहा करे तो न कोई श्रम होगा न कुछ खर्च।

किन्तु लाभ इतना होगा कि उससे हमारा सम्मान ऊपर के सारे लोकों तक बढ़ता जायेगा। अपने जड़ पड़ोसी हमें जल्दी न जान पायें यह हो सकता है पर देवगण जो हमारे हृदय की पहचान भूलते नहीं वे हमें ऊपर बढ़ाने में लापरवाही नहीं बरतेंगे। देवलोक में रिश्वत परस्ती नहीं पहुँच पायी है। कोई कह सकता है कि यह उपाय लौकिक लाभ बढ़ाने के बजाय घटाने वाला लगता है, इसे हम क्यों अपनायें। सो ठीक है, तम्बाकू न होने से कोई मिठाई की दुकान न जाये तो भी हलवाई अपनी दुकान में तम्बाकू तो नहीं सजायेगा। लौकिक लाभों में सर्वोच्च स्वरूप लाभ ही है, स्वरूप भूलने के बाद मिला सार्वभौम साम्राज्य भी धोखा ही है, वह भी बड़ा धोखा है। बड़ा धोखा इसलिए कि बाहरी वैभव अन्तर्मुखता में बड़ा ही बाधक होता है, बहुत कम ही लोग वैराग्य होने पर राज्य पाट छोड़ कर वनवासी होते हैं। इधर राज्यपाट छोड़ देना मात्र कोई सिद्धि नहीं हो जाता, भाग्य से हटा सब कुछ छूटता ही है, अहंकार का शोधन एक बड़ी ही कुशलता का काम है। उस अननुभूत एकान्त साधना में बाहरी वैभव पर ध्यान विघ्न समझ में आता है इससे त्याग तो हो जाता है किन्तु अहम् की

समीक्षा परीक्षा और अनुरूप कर्तव्य निश्चित कर उसे निभाते चलना त्याग की तुलना में कई गुना कठिन काम होता है, बल्कि बाहरी त्याग के बिना भी अहम् का शोधन जारी रखा जा सकता है, ''चरैवेति'' इस श्रुति के आदेश का विधिवत् पालन किया जा सकता है। गीता में त्याग से अधिक महत्त्व कर्मयोग को ही दिया गया है। वन में भी जा कर कर्म ही करना पड़ता है। निठल्ला बैठने के लिए त्याग नहीं होता। बल्कि राज्य सिंहासन पर बैठे रह कर भी अहं का शोधन आसानी से किया जा सकता है। वह शोधन त्यागोत्तर शोधन से कम महत्त्व का नहीं होता। राज्य का ऐसा कोई कर्तव्य नहीं होता जो ''चरैवेति'' का विषय न हो।

बल्कि त्याग मन की दुर्बलता से करना पड़ता है, विषयों के आकर्षण से बचना मुश्किल मालुम होता है। किन्तु स्वरूपनिष्ठा अर्जित किये बिना वन में या भवन में मन दुश्मन ही रहता है। मन से सही समझौता किये बिना वन या भवन एक समान ही संकट हुआ करता है।

प्रज्ञा सम्हाल रखना, ख़ुद को सदा परखना।
हरि के प्रसाद से हट, कोई विषय न चखना।।
सबके लिए यही है, कल्याणमार्ग सच्चा।
अज्ञान से रखें क्यों, हम आत्मभाव कच्चा।।

ऐसा नहीं है कि आत्मज्ञान और स्वरूपनिष्ठा सौ अपराध पूरे करने के बाद कोई चाहे तो किसी पाखण्डी के इशारे पर शुरु करे। देश में पाखण्डी दम्भी शासन के दोष से ही उपजते हैं। दोष न हों तो देश में शासन अच्छा ही रहे, सभी सत्पथ के यात्री रहें, समाज उत्तम शील से सदा सुशोभित रहे। यह कोई जरूरी थोड़े है कि कोई विदेशी या स्वदेशी अपना दम्भ फैलाने के लिये देश के जनप्रतिनिधियों को खरीदने में सफल हो जाये। या शासन की कुर्सी पर कुशासन का जाल फैलता रहे। भजन कोई ऐच्छिक कृत्य नहीं है, वह तो प्रत्येक नागरिक का सदा जारी रहने योग्य महान् अनिवार्य कृत्य है। अभी देश में इस दिशा में कुशिक्षा से उलटा भाव बना है। अपराधी समूह अपने कर्तव्य नहीं भूलते और धर्मात्मा सज्जन हिन्दू सीमित वस्त्र भोजन मात्र से सन्तुष्ट हैं और देश की रक्षा का भार महादलित मुख्यमन्त्री पर छोड़ कर निश्चिन्त हैं। देश की यह दुर्दशा कुशिक्षा की बरसाती धारा से हुई है। इसमें सुधार केवल शासन से कभी

सम्भव नहीं है। सुधार के लिए देश में एक हजार अलग–अलग मौलिक संगठ्नों की तत्काल आवश्यकता है। अहं की शुद्धि के लिए देशव्यापी आदर्श शिक्षा की आवश्यकता है। अन्यथा साधक पागल अलौकिक और उपेक्षणीय माना जायेगा।

देश से संस्कृत शिक्षा लगभग मिट चुकी है, अहं की शुद्धि संस्कृत शास्त्रों के परिशीलन से दूना कठिन तो है ही। केवल संस्कृत नहीं बल्कि देश की सारी भाषाओं और बोलियों का भी संन्यास (मूर्च्छा) चल रहा है। रिश्वत डाइन सब का खून पी चुकी है। ऐसी स्थिति में अहं की शुद्धि के उपाय पढ़ने समझने वाले स्नातक कहाँ मिलेंगे। यह कोई अनपढ़ सत्संगी या कथा–कीर्तन श्रवण–भजन में बैठकर धन्य हो रहे लोगों का विषय थोड़े हैं। अहं की शुद्धि का उपदेश धर्मयुद्ध के आरम्भ में केवल अर्जुन (शुद्धचित्त भक्त) को विश्व के अनादि गुरु अन्तर्यामी नारायण ने बड़ी ही आत्मीयता से दिया था। ग्रन्थ तो अभी भी उपलब्ध है, बूढ़ों के मरने के बाद उनके मोक्ष के लिए दान करने को। जीवित अवस्था में इसे कोई नहीं पढ़ता, पढ़ने भी नहीं दिया जाता कि बेटा कहीं साधु न हो जाये। अर्जुन भले साधु नहीं हुए पर आज के दुर्बल चित्त वाले बालक साधु हो सकते हैं, तब देश में चोरों की संख्या घटने का खतरा हो सकता है, घर में धनकी कभी हो सकती है। अहं की शुद्धि भी एक जबर्दस्त खतरा है। इससे झगड़े रुकेंगे तब देश के एक से काले पक्ष वाले कोर्ट के कौवों को टुकड़े कौन डालेगा। देश में मनीषी बहुत हैं, वे अहं को ढ़कने में लगे हैं। फिर भी गीता प्रेस के सैकड़ों प्रकाशन और वितरण जारी हैं। धरती पर कौवों को देख कर कोयल छिपती नहीं, बगुलों के मौन का अनुकरण हंस नहीं करते। विश्व में भले बुरे सब हैं ही, भलों के आहार के रूप में अच्छे साहित्यों का सृजन सर्वान्तर्यामी परमात्मा करते ही रहते हैं। अच्छे ग्रन्थों से अच्छाई निकालने वाले हंस कम होते ही हैं। उन कम लोगों के लिए ही अच्छे ग्रन्थ बनते हैं। शराब की दुकानों में भीड़ देखकर जौहरी शराब या दूध भी बेचना शुरु नहीं करता।

अस्तु, वेदान्तियों की दुनियाँ में अहम् एक ऐसा अहम पदार्थ है जिससे अधिक विचारणीय ब्रह्मतत्त्व भी नहीं है। उस पर तर्कों और प्रमाणों की ऐसी जमघट बनी है कि बड़े–बड़े दार्शनिक तार्किक और वैज्ञानिक

अपना निर्विवाद निर्णय देने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। इस पर सही पकड़ बनाये बिना ही महान् आचार्य बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखकर इतिहास में विराजमान हैं।

यहाँ हम जान बूझकर न प्रमाण वचन उद्धृत करते हैं न आचार्यों की सहमति या विमति की चर्चा करते हैं। विषय की पकड़ सामान्य सहज अनुभवों के द्वारा जो सब को हुआ करती है उसी के आधार पर सरल प्रस्तुति का प्रयास किया गया है। फिर भी विषय व्यवहार में कम ही आता है और सूक्ष्मदर्शी जन भी कम ही होते हैं इससे इस पर सरल हिन्दी भी कठिन गम्भीर हो रही है। बार-बार पढ़ने से तात्पर्य का बोध हो जायेगा। आइये, आप स्वयं को समझिये और मकड़ी के जाल से निकालिये, निकल कर देखिये कि आप सदा से ही कितने अच्छे हैं फिर भी स्वयं को भूलकर झूठे क्लेशरूपी मकड़ जाल में फंसे थे। प्रारब्ध कर्मों के मिटने से आपका ज्ञान पूर्ण विकसित हो जायेगा किन्तु प्रस्तुत सामान्य ज्ञान से भी आप स्वयं को धन्य मानने लगेंगे। इसी ज्ञान से आपका कर्मबन्धन शिथिल होगा जिससे अन्य सारे विषयों में ज्यादा ही प्रगल्भता अपने आप में आप स्वयं पायेंगे।

क्लेश जाल से निकल जाइये, दैवत दुर्लभ अमृत पाइये।
पिछले अपने अपनों के भी, सपनों के संगीत गाइये।।

जब आप समझेंगे कि अतीत भी हमारा मंगलमय ही रहा है, सारे क्लेश मिथ्या कल्पना के सिवा कुछ नहीं थे, तब आप अपने अहम् पर अहम मानस श्रम का मूल्य करोड़ों में आँकेंगे। फिर आप समझेंगे कि जीवन का यह एक ही सही फल है स्वयं की पहचान।

आइये, स्वयं को अज्ञान के जाल के छिद्रों से आराम से शीघ्र ही निकाल लीजिये। गौर कीजिये कि स्वयं को ठीक से न जानने से शरीर से भी अधूरा जुड़ने वाले अर्थों को हम स्वयं से जुड़ा मानने लगते हैं और उस जुड़ाव से हो रहे हानि-लाभों को अपना मानकर सुखी या दुखी होते हैं। जब कि सुख-दुःखों का वहाँ वास्तव कोई कारण नहीं रहता। उदाहरण के लिए पुत्र का विवाह लीजिये, पुत्र का किसी लड़की से विवाह हुआ, यह एक प्रेम का सम्बन्ध, आनन्दमय और बहुत से मनोरथों का पूरक माना जाता है। माना जाना अलग बात है असलियत कुछ और ही होती है।

लड़का लड़की मिलते और वृद्धावस्था तक पहुँच जाते हैं, बहुत सन्तान भी होती है किन्तु क्या वे दोनों परस्पर थोड़ी भी पहचान बना पाते हैं ? उत्तर में लोग कहेंगे कि क्यों नहीं हम परस्पर पूरा जानते हैं। किन्तु जानते क्या हैं, झगड़ते क्यों हैं ? दुश्मनी करने वाली, अल्पायु, रोगी, अपराधी सन्तान क्यों उत्पन्न करते हैं। सन्तान उनसे जुड़ कर उन्हें जो भी भोग देने वाली होती है उसका पता उन्हें पहले से कुछ नहीं रहता, फिर वह सारे भोग वह किन कारणों से देती है इसका भी पता उन्हें नहीं रहता। उन्हें तो सामान्य रूप से भी यह पता नहीं रहता कि कुछ भले बुरे भोग देकर ये मुझसे हटने वाली हैं। पति पत्नी का सम्बन्ध भी पुराने कर्मों के फल पाने के लिये होता है। यह रहस्य दोनों में से एक को भी ज्ञात नहीं रहता। इसी से तो घटनाओं से उन्हें ज्यादा ही सुख दुःख हुआ करते हैं। कर्माधीन नाना सम्बन्धों से बन रहा यह अहम् भाव (मैं यह ऐसा हूँ इस तरह की भावना) सारे नये शुभ अशुभ कर्मों तथा प्रिय अप्रिय भोगों का आधार होता है। अहम् भाव के सारे आधार अज्ञान से कल्पित और असत्य ही होते हैं। सच्चाई इस विश्व में अति दुर्लभ होती है।

उदाहरण बने युवा पुत्र के जीवन में पहला सम्बन्ध पिता का माता से माना जाता है। उत्पन्न होकर पुत्र पिता और माता का सम्बन्ध प्रमाणित करता है। उसे शुरु में जो जो पहचान बतलायी जाती है उसी का अभ्यास करके वह दूसरों को बतलाता है। मुखाकृति की तुल्यता से भी माता पिता की पहचान होती है। यहाँ पिता माता और पुत्र तीनों ढाँचा मात्र होते हैं। ढाँचों का सञ्चालन करने वाले तीनों चेतनतत्त्व पकड़ से दूर ही रहते हैं। जब कि पितृत्व मातृत्व और पुत्रत्व के सही धारक ढाँचों के माध्यम से चेतन ही होते हैं। ढाँचे तो उनके उपकरण मात्र हैं। उन चेतनों में से किसी एक की भी पहचान किसी को नहीं होती। इस तरह हम समझते हैं कि वास्तव पिता माता और पुत्र की पहचान आज तक किसी को नहीं हो पायी है। ढाँचे की पहचान नगण्य होती है। ढाँचों की आयु कर्म वित्त विद्या अविद्या एवं जन्ममरणों के वास्तव हेतु जाने नहीं जाते। तो हम ढाँचों की बनावट मात्र ही तो जानते हैं। यह कोई परिचय थोड़े हुआ। बिना ठीक समझे ही पिता माता पुत्र के सम्बन्ध व्यवहार में चलते हैं। यहाँ हर्ष या शोक का कारण अज्ञान और मोह के सिवा कुछ नहीं होता।

हम क्या हैं, कैसे हैं यह पीछे भगवद्‌गीता 13वें अध्याय से समझ चुके हैं किन्तु स्वयं को ठीक से न समझ पाने की स्थिति में हमारा अज्ञान अघासुर की तरह इतना फैलता है कि उसकी लपेट से बाहर कुछ नहीं बच पाता। परमात्मा को भी वह अपने उदर में ही लेता है किन्तु परमात्मा के संकल्प से उसका अन्त हो जाता है। उनके संकल्प से ही यह सन्दर्भ भाग्यशाली सज्जनों के समक्ष आ रहा है। विनाशकारी अज्ञान का विकास रोक कर स्वयं सुरक्षित रहने के लिए हमें सदा ही आक्सीजन की तरह प्रकाश की तरह ज्ञान विज्ञान का परिशीलन करते ही रहना चाहिये। आज तक विश्व में स्वयं को समझाने वाली ऐसी कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हो पायी है न लाखों वर्षों तक प्रकाशित हो पायेगी जो भगवद्‌गीता की व्यर्थता सिद्ध कर सके या उसका विकल्प बन सके। अवश्य ही मजहबी दासता के शिकार लोग कल्याणमय भारतीय ग्रन्थों को अपनी लाइब्रेरियों में थोड़ा नीचे रखने की सहज जड़ता सम्हाले रहेंगे। भाषा का मर्म समझने, पकड़ने की कला न होने से भारतीय जन भी भारतीय प्राचीन आर्ष ग्रन्थों को म्लेच्छ किताबों से अच्छा आज तक समझ नहीं पाये हैं।

अन्धेरे में कहीं उल्लू, रहेंगे क्या कहेंगे वे।
न हम से अन्य पक्षी है, मनोरम बोल जो दे दे।।

अहम् को, स्वयं को ठीक से समझने के लिए किसी भी ज्ञान की विशेष्यता प्रकारता संसर्गता नियामकता तात्पर्यविषयता प्रासंगिकता सन्दर्भानुरूपता आदि विशेषताओं को जानना और आर्ष ग्रन्थ समझने की क्षमता तक देववाणी का अभ्यास होना आवश्यक है। अन्यथा बाइबल के बीचवाले पेड़ की और उसके फल की पहचान बाकी ही रह जायेगी। ईसाई जन दुनियाँ में देशों को काटने के लिए जितना दम्भ पाखण्ड फैलाते रहते हैं वह सब संकेत में भी कहीं नहीं लिखा है, कुरान में सौ से ज्यादा बार अल्लाह को रहमानिर्रहीम यानी दयावान और क्षमाशील कहा है किन्तु कोई मुस्लिम आज तक यह नहीं जान पाया कि हमें भी दया क्षमा अपनानी चाहिये। मुस्लिम तो अपने मन की रचना के मुताबिक सिर्फ लूट पाट मारकाट कतल करते हुए अपनी एक किताब का नाम लेते और कुछ-कुछ बांचते भी चलते हैं। कोई उनकी हरकतों को गुनाह न कहे इसके लिए एक किताब पुराने चीथड़े में लपेट कर लिये चलते हैं। जिस ईश्वर ने

बाघ से अलग गायें बनायीं उसी ने कुबुद्धि मुस्लिम से अलग शान्तिप्रिय धर्मज्ञ मानव भी बनायें हैं। मुस्लिम से पहले भी कालयवन और काला पहाड़ जैसे बहुत से खूंख्वार नराकार प्राणी बनाये थे। वे तो दो तरह की सृष्टि करते ही रहते हैं। वास्तव में कर्मानुसार वे लाखों प्रकार या चौरासी लाख प्रकार के जन्तु बनाये हैं, बनाते भी रहते हैं। हिन्दू मुस्लिम भेद यदि कोई समस्या है तो वह ऐसी हजारों समस्यायें भी नर पशुओं के चरने के लिए बनाते ही रहते हैं। हमें तो सही ज्ञान और कर्म चाहते हुए सिर्फ प्रमाण प्रमेयों के भेद समझते चलना चाहिये।

अहम् की शुद्धि मानव जीवन का सबसे बड़ा अहम सवाल है, जबाब कठिन नहीं है पर रूझान न बदल पाना, बिना घेरे के ही भली-बुरी किसी सीमा से अज्ञात नियन्त्रण के कारण न निकल पाना और इसीसे अपने अहम् को गलत रूप में ही पहचानते अपनाते चलना वह अचिन्त्य असाध्य रोगाणु है जो हजारों धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक समस्यायें उपजाता रहता है। अहम् के नाना रूप होने का कारण आज तक समझा नहीं जा सका है। अहम् का विकार एक ऐसा विकार है जिसे विश्व के रचयिता के सिवा और कोई समझ नहीं सकता। इसकी उपमा बादल की पूर्व अवस्था उस कुहरे से दी जा सकती है जो रहता हुआ भी रविप्रकाश को रोक नहीं पाता किन्तु थोड़ी ही देर में बादल बन बरसने लगता है। विश्व में जितने भी संग्राम हुए हैं उनका एक ही कारण रहा है अचानक तेजी से घनत्व पा रहा मिथ्या अहंकार। सघन पूर्व संकल्पधारी दुर्योधन रावण आदि ने उस सहयोग की कल्पना नहीं की होगी न आवश्यकता समझी होगी जो उन्हें समय पर मिला। अचानक ही हमें भी लड़ना है यह मानकर बर्र, ततैया, मधुमक्खी, भौंरों की तरह लाखों वीर युद्धभूमि पर पहुँचते और काल का कवल बन जाते हैं। इससे सघनता पाने से पहले ही हमें अपने उस अहम् की पहचान भगवद्गीता के निर्देश से कर लेनी चाहिये जो कुछ ही पल बाद अपराध की भूमिका बनने वाला होता है।

तनिक पूर्व ही जाग लें तो बुरा क्या?
अहम् की परख से सुगम या भला क्या?
यही मोह बनता, प्रमादी बनाता।
निरय स्वर्ग दोनों यही आप बनता ।।

जरा सा सम्हल कर अगर हम चलेंगे।
न दुष्कर्म होंगे, न खुद को खलेंगे।।
न इतना, बड़े पुण्य ऐसे फलेंगे।
कुसंस्कार उनसे स्वयं ही जलेंगे।।

आइये, पहले यहाँ समझें, हमारा भीतरी बाहरी अज्ञान असंख्य भेदों वाले अविवेक, भ्रान्ति, कल्पना, मोह, इच्छा, और अर्थहीन शब्दों का सहारा ले ले करके कभी गुब्बारे की तरह पूरा सारहीन होता हुआ भी बहुत बड़ा आकार ले लेता है तब कांग्रेस जैसी सेक्युलर पार्टियों की तरह उस गुब्बारे की रक्षा के लिए हम स्वयं कुछ-कुछ जोगाड़ करते हैं और समाज एवं शासन भी हमारा सहयोग करता है। किन्तु यदि पूछा जाये कि तुम जिसकी सुरक्षा कर रहे हो वह वास्तव में है क्या बला, तो उत्तर अति दुर्लभ होगा।

अहंकार का शोधन यदि कोई बौद्ध दार्शनिक करेगा तो शून्य पायेगा, उनका शून्य मस्तिष्क और शून्य प्रज्ञा शून्य ही पाती है किन्तु यदि कोई तत्त्ववादी दार्शनिक करेगा तो बहुत कुछ पायेगा।

शब्दों की दुनियाँ ने जग को, कैसा सुभग बनाया है।
जीरो के अन्दर ही जगमग शुभ ब्रह्माण्ड रचाया है।।
जीरो वादी जीरा छौंकें, हम तो हीरा रखते हैं।
निर्विशेष में हरपल रसमय सुधाधार ही चखते हैं।।

हमारी आज की स्नातकोत्तर भी शिक्षा इस दिशा में वाक्य तो कौन कहे, एक शब्द से भी सहयोग नहीं करती। भारतीय मनीषियों ने अपने देश को विदेशों की भी दृष्टि में सम्माननीय गुण पूर्ण बनाने का उद्देश्य रख कर कोई शिक्षा विकसित नहीं की। धनमोह ने उनकी दृष्टि को अति सीमित कर रखा है। अंग्रेज ऐसा क्यों सोचते। आज तक के भारतीय सारे नेता पूरे देश को लूटने मात्र का संकल्प लिये चल रहे हैं इससे ये भारतीय दर्शनों को मानव जीवन का न तो कवच मान सके न श्रृंगार। बस जंगली विफल असार वृक्षों के दर्जे में रखकर, असामाजिकों के तम्बाकू मानकर, विश्वविद्यालयों के कब्रिस्तान में डालकर कृतार्थ हैं।

कुशिक्षा से हानि जितनी, भारतीय उठा रहे।
विश्वतल से स्वयं को अज्ञान मग्न मिटा रहे।।

वह प्रथम आश्चर्य जग का, चीन की दीवार सा।
हुए क्या आजाद, हम तो सो रहे हैं भांग खा।।
भ्रान्तियों की तरल धारा, डुबोती छलती रहेगी।
हमें जब तक स्वयं प्रज्ञा वृथा हो जलती रहेगी।।
स्वयं को हम समझ लेंगे, कृष्ण उज्ज्वल पक्ष से।
तब मिलेंगे विश्व को हम, हर कदम में दक्ष से।।
दक्षता अपना चलें क्यों, वृथा ताप बिना जलें।
कल्पतरु हम, तनिक रुककर, चार फल सुन्दर फलें।।
बिना समझें स्वयं को हम, पशु बने क्यों घूमते हैं।
अनाड़ी मुखड़ा किसी का, फूल माने चूमते हैं।।
समझदारी ईश ने दी, हम न वह अपना रहे हैं।
गिरे जिस पथ बढ़ उसीसे, बिना जाने चल रहे हैं।।
रोक किसकी ओर से है, समझ पर, हम सोच लें।
स्वच्छ पथ निर्विघ्न देखें, स्वयं का, जल्दी चलें।।
दर्शनों के सरल सुन्दर सरस पौधे झट उगें।
सभी मानव बालकों के हिये, वे जल्दी लगें।।
विश्व रक्षा हेतु जो विज्ञान है वह चाहिये।
क्यों गढ़ें विस्फोट, हिंसा, जनों की क्यों चाहिये।।

अज्ञान का प्रथम अंकुर होता है अविवेक, शिशु अविवेक पर ही जाते हैं, नेहरू जी को चीनी और भारतीय का विवेक नहीं हुआ, उन्होंने धोखा खाकर धोखा माना, जाना। धोखे का हेतु चीन की अति प्राचीन सहज प्रकृति वे नहीं समझ पाये। इतिहास उन्होंने ऊपर–ऊपर पढ़ा था। वे वह कौल थे जिसे गोस्वामी तुलसीदास ने चौदह जीवन्मृतकों में पहला गिनाया था। ''कौल कामवश, कृपिन विमूढ़ा'' इत्यादि। कोई जाति न भी माने तो जातियाँ रहती ही हैं अपना कर्तव्य अज्ञान रखती ही हैं, गान्धी जी यह भेद समझ ही नहीं पाये, वे तो गोरों को कृष्ण मानना चाहते थे। भारतीय राजनीतिक पराभवों के लम्बे इतिहास का गान्धी, नेहरू काल सघन अविवेक काल रहा है। वह काल आज भी जारी है, जन वही हैं, मन भी वे ही हैं। मुहर बदली है। मोह के लिए।

हमें आत्मा और मन का विवेक अर्जित करना है, क्यों ? इसलिए कि हम समझा करें कि हमारा यह राग, यह द्वेष, यह स्पृहा, यह आदर, यह उपेक्षा, यह अज्ञान कितना पुराना है, कैसे हुआ, इसे बढ़ाना चाहिये या घटाना, उपाय क्या है, इत्यादि। यदि हम इतना भी समझ लें कि ये सारे भाव आते जाते रहते हैं, ये हमारे अभिन्न नहीं हैं, इनके सफल होने या विफल होने से अपना कोई लाभ या हानि नहीं है तो भी अज्ञान घटेगा और अज्ञान के सुख–दुःख भी घटेंगे। आत्मा और मन का विवेक कहाँ काम आता है ? यह समझना है। आत्मा अत्यन्त शुद्ध है, वह किसी जाति, सम्प्रदाय, मत पन्थ मजहव में नहीं होता, न वह स्त्री होता है न पुरुष, क्लीब भी नहीं उसकी सौ पचास वर्ष या हजार लाख वर्ष आयु नहीं होती। वह न कुछ याद करता है न भूलता है, स्मरण विस्मरण मन में होते हैं। मन के विकार प्रकृति के संसर्ग से होते हैं। प्रकृति शरीर की अवस्थाओं की होती है, कल्पनाओं की होती है, दृश्यों की होती है, मनमें स्थित प्रकृति के विकारों की भी होती है। मन में हेर–फेर होता ही रहता है। उसमें हमारा बहुत अधिकार होता है, इसी से शिक्षा, कला, विद्या, ध्यान, स्मृति, संकल्प, विकल्प, प्रज्ञा, मेधा आदि हम अपने ही प्रयत्नों से बनाते बिगाड़ते, बदलते रहते हैं। मन हमारे हाथ पैर जैसा एक उपकरण है, यह कम्प्यूटर के स्क्रीन जैसा काम करता है किन्तु स्क्रीन से ज्यादा काम भी करता है। आत्मा की वासनाओं से जोड़कर बाहरी दृश्यों का एक संस्कार अपने में रखा करता है।

इसकी तुलना नेत्रों से भी की जा सकती है। हर प्राणी के नेत्र अलग–अलग काम करते हैं। ''हम देखहिं तुम नाहिं, गीधहि दृष्टि अपार'' सम्पाती ने वानरी सेना से कहा था। लंका की अशोक वाटिका में अशोक के नीचे बैठी सीता जी को वह समुद्र पार से ही देख रहा था, पहचान भी रहा था। यह उसकी गृध्रदृष्टि की विशेषता थी, गृध्रका माने होता है इच्छुक। हम गीध को मांस का इच्छुक ही मानते हैं किन्तु वह हर विषय का विश्लेषण भी करता है, इच्छा से ही विश्लेषण होता है, विश्लेषण से ही जटायु ने रावण पर हमला किया था, उसने उसे दण्डनीय अपराधी मान लिया था, सीता के स्पर्श के बाद तुरन्त गीध का हमला रावण के लिए भारी अपशकुन था, कौवा भी यदि चलते में हमला करे तो मृत्युभय होता

है, गीध के हमले का कहना ही क्या है। यह विशेषता उसकी इच्छुकता यानी विषयपरामर्शपरायणता का फल होता है।

नेत्रों की तरह मन भी सबके अलग–अलग होते हैं, गीध के नेत्र के साथ उसका मन भी ज्यादा सक्रिय होता है। मानवेतर बहुत से प्राणियों में प्रज्ञा प्रतिभा पूर्वाभास आदि गुण मानव से बहुत ज्यादा होते हैं। वे मानव का सम्मान भी बहुत करते हैं, इसके बहुत उदाहरण हैं। यहाँ हमें मानव मन की विशेषताओं पर ध्यान देना है। हर भूमि के मानव की प्रकृति अलग होती है। भारतीयों की तरह चीन के लोग कभी नहीं सोच सकते, जापान की तरह भी वे नहीं सोच सकते। चीन में इस्लाम घुस पड़ा है, जापान में नहीं। इस्लाम का शाब्दिक अर्थ चाहे जो भी हो किन्तु उसकी पहचान शुरु से ही विघटनकारी हिंसा के रूप में दुनियाँ को हुई है, मुस्लिम भी जेहाद को वरीयता देता हुआ यह मानेगा ही।

उनका संघटन सिर्फ जेहाद के लिए होता है। जेहाद शब्द यदि "जसु मोक्षणे, जसु ताड़ने, जसु हिंसायाम्" धातुओं से बना माना जाये तो उसका माने छीनना, लूटना, पीटना और कतल होगा। यही तो डेढ़ हजार साल से दुनिया में देखा जा रहा है। मुहम्मद ने कुरान पढ़ कर सुन कर समझ कर विचार कर जो जो किया वही बाद के सारे मुस्लिम कर रहे हैं फिर भी देश भेद से प्रकृति भेद नियम के अनुसार अलग–अलग देशों के मुस्लिमों में यह देखना विवेचन करना बहुत ही लाभकारी होगा कि किस देश ने जेहाद् कैसा कितना समझा और अपनाया। बहुत से मुस्लिम शुद्ध मानवतावादी मिलते हैं। नेहरू जी ने जिन्ना को भी मानवतावादी ही पाया जब कि भारत देश का गुण बखान चुके इकबाल कवि ने भारत छोड़ पाकिस्तान में बसना अच्छा माना। भारत का कटा सिर उन्हें पाक लगा।

हम मन पर विचार कर रहे हैं, यह देख रहे हैं कि नेहरू जी अहम् के शोधन के मूड में नहीं थे जब कि बहुत से मुस्लिम मानवता का सम्मान करते पाये जाने के कारण, सेवा परायणता से भी स्वयं की सही पहचान करने में रुचि लेने वाले हैं। उन्हें मार्ग दर्शन चाहिये।

अहं को हम जान लें तो, समस्यायें क्यों रहेंगी।
शरद् सरिता मलिन जल ले, पूर्ववत कैसे बहेगी।।
मित्र! देखो स्वयं को ही, भेद नीचे को बहा दो।
तापमय भा भानु जैसी, सम्हालो सद्गुण जमा दो।।

स्वयं को भी समझ लेना, न जो चाहे पढ़ा होकर।
सलिल धारण न करता हो, घड़ा भी जो गढ़ा होकर।।
जिहादी हो भले वह पर, मनुज हम कैसे कहेंगे।
भाड़ होगा घड़ा भी वह, कलश हम कैसे कहेंगे।।

स्वयं को समझना बहुत आसान है, किसी अंश में कठिन भी है, विवेचन में कठिनाई होती है, पर दृष्टान्तों से वह भी सरल हो जाता है, हर प्राणी स्वयं को सदा सुषुप्ति में भी जानता ही रहता है तब उसकी एक यह अच्छी पहचान हो गयी कि जो कभी न भूले स्वयं को वही हम हैं। हम तो स्वयं को सदा जान ही रहे हैं किन्तु यह जो शरीर की जातपाँत उम्र और नाते गोते हैं उन्हें भी हम अपने में मानते हैं यही समझने बूझने विचारने लेने और छोड़ने की वस्तुएँ हैं। लाल कुर्ता पहन कर हम लाल हो गये, कलमा पढ़ कर मुस्लिम हो गये, वपतिस्मा से ईसाई हो गये, कुछ न माना तो नास्तिक और कुछ आधा अधूरा भी मान लिया तो आस्तिक हो गये। किसी के बाप हो गये, किसी के बेटे हो गये, किसी के दोस्त तो किसी के दुश्मन। ये जो बाहरी सम्बन्ध होते हैं वे बाहर ही होते हैं किन्तु उनका भला बुरा नतीजा, मन तक जाता है, मन आत्मा को तत्काल सौंपता है आत्मा देख जान मान लेता है। मन सौंपता तो है किन्तु कोई एक तत्त्व दूसरे किसी को समर्पित नहीं होता केवल उपयोग होता है। मन तक गया नतीजा मन में ही रहता है, मनसे भी उसे हटा देना विवेक का फल होता है। जैसे कोई किसी का बाप माना जाता है, यह एक किसी क्षणिक घटना पर और कल्पित एवं दुहराये जा रहे व्यवहारों पर होता है। जिस निषेचन से कोई बाप होता है उसका वह स्वतन्त्र कर्ता कभी नहीं होता, वह तो सदा ही प्रयोज्य कर्ता होता है, हल खींच रहे बैल की तरह या स्वयं स्फुरित गीत गुनगुनाते गायक की तरह। याद करके रुचिपूर्वक गाना और स्वयं याद आया गीत दुहराना भिन्न होता है। हम प्रकृति की घटनाओं के बहुत अधीन रहते हैं। हमारा कर्तृत्व कभी एकल हमारा नहीं होता। हम जो भी कार्य जिस समय तक करते रहते हैं उस समय भी हम उस कार्यके वास्तव कर्ता नहीं होते, अवश्य ही दूसरा कोई वास्तव कर्ता न मिलने से हम कार्य के गुण दोषों से जुड़ते हैं जबकि वास्तव कर्ता पास ही खड़ा मुस्कुरा रहा होता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अठारहवें अध्याय गीता में ''अनिष्टमिष्टम् मिश्रं च.'' इत्यादि श्लोकों से चेतन का सहज अकर्तृत्व बहुत सरल रीति से समझा दिया है। यदि हम उस सन्दर्भ में मन लगाकर अपना अकर्तृत्व समझ लें और न भूलें तो अहम् शोधन का पूरा फल मिल जाये। इतना ही नहीं, मानव जन्म भी पूरा सफल हो जाये। यहाँ हमें इतना ही समझना है कि कोई भी कर्ता सदा ही परसापेक्ष होता है, लिखने को कमल, पढ़ने को नेत्र, सुनने को श्रोत्र लेटने को भूमि, चलने को मार्ग और उद्देश्य आदि अपेक्षित होते हैं। परसापेक्षता का माने होता है एकल का अकर्तृत्व। हम कह सकते हैं कि कोई अकेला नहीं लिख सकता, उसे कागज पेन चाहिये ही। संसारी आत्मा में सबसे बुरा दोष शुभाशुभ कर्तृत्व ही है ? किन्तु वह यदि पराधीन है, स्वेच्छाऽनुविधायी नहीं है तो दोषारोपण ही गलत होता है। यहाँ प्रश्न होगा कि माना कि किसीने अपराध किया, किन्तु उपकरण लिये तो अपराधी नहीं घूमते, उपकरणों का जुटान दूसरे अपरिचितों के द्वारा होता है। ऐसी स्थिति में कोई अकेला अपराधी नहीं होता, यह जान कर न्यायकारी को चाहिये कि उसे दण्डित न करे। इसका बड़ा ही सरल सहज उत्तर है कि जितनी सामग्री के बिना अपराध नहीं होता उतनी सामग्री के सहित यानी परिपूर्ण कर्तृत्व के सहित कर्ता को यानी "तत्तदुपादानगोचर, अपरोक्ष ज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्व" के सहित अपराधी को ही दण्ड मिलता है। दण्डनीय व्यक्ति दण्ड निर्णय के समय अपराध की अपनी इच्छा और प्रयत्न स्वीकार करता है। यदि कर्ता क्रिया के समय लौकिक फलापेक्षा नहीं रखता, यदि किसी दूसरे के हित के लिए शुभ अशुभ कृत्य करता है तो उसका फल लौकिक या अलौकिक दोनों उसे नहीं मिलते। तटस्थ अकर्ता के तुल्य ही वह रह जाता है। न तो न्यायाधीश उसे दण्डित करता है न परलोक में उसे नरक होता है। कर्मफल तो लौकिक फलापेक्षा होने से ही मिलते हैं। सैनिक युद्ध में शत्रुओं को मारते हैं, उन्हें किसी पक्ष से दण्ड नहीं होता। नौकर भोजन परसता है, उसे भोजन कराने का पुण्य नहीं मिलता, वेतन के लिए वह काम करता है, वेतन पाता है।

कर्ता सदा ही प्रकृति से प्रेरित होकर काम करता है, प्रकृति परमात्मा के संकल्पों से ही सारे परिणाम पाती है, कोई एक परिणाम कर्ता से कर्म करा देता है, फल की स्पृहा न होने की स्थिति में कर्मफल उसे नहीं होता

और यदि वह ईश्वरीय प्रेरणा मानकर ईश्वर के मुखोल्लासमात्र के लिए कर्म करता है तो उसे अपराध नहीं लगता बल्कि सैनिक की तरह या सेवक की तरह पुरस्कार का भागी होता है। यह अर्थ भगवद्गीता (पाँचवाँ अध्याय) विस्तार से बतलाती है, उसका और भी विवरण अठारहवें अध्याय में श्लोक 12 से लेकर 17वें तक मिलता है।

अहं संशुद्धं चेत्त्रिभुवनमनन्तं सुखमयम्,
मृषा रागाविद्धं शबलितफलं विश्वमखिलम्।
इह स्वर्गो मोक्षः कुमतिवलितानाञ्च निरयः,
स्वदृष्टौ कः क्लेशो हरिरपि सहायः सुखमयः।।

स्वयं को अगर ठीक से जान लेंगे।
न तब विश्वकान्तारकांटे खलेंगे।।
वरी बाणशय्या स्वयम् भीष्मने थी।
रहे बोध में, कौन पीड़ा उन्हें थी।।

हमें स्वयं को समझने के लिए अज्ञान के अगणित परिवार के विस्तार की जानकारी नहीं चाहिये। सामान्य रूप से इतना जान लेना काफी है कि यह जो अच्छा खराब या मध्यम भीतरी या बाहरी अवस्थायें हैं इनमें न कोई वास्तव अच्छाई है न बुराई। अच्छाई बुराई तो हम अपने हृदय में पहले ही से गुब्बारों की तरह पाले रहते हैं। भीतरी बाहरी कोई भी आलम्बन पा कर उनका मिथ्या, कल्पित अनुभव लेते रहते हैं।

संसार है यह रचा हमने स्वयं ही।
आनन्द या कि विपरीत गढ़ा स्वयं ही।।
दोनों मृषामति तमोमय हो रहे हैं।
धिक्कार है कि उनमें हम खो रहे हैं।।

(वसन्ततिलका)

हम अपने अज्ञान की थोड़ी पहचान और बढ़ा सकते हैं कि यह मेरा अविवेक है, भीतरी या बाहरी या दोनों यह अपना भ्रम है, यह केवल कल्पना है, यह मोह है, यह इच्छामात्र है, यह जो हम अपने को कुछ–कुछ कांग्रेसी, ज.द. या रा.ज.द. या मुस्लिम, ईसाई या हिन्दू आस्तिक या नास्तिक मान रहे हैं वह सब कुछ केवल निरर्थक शब्दों का पहनावा है।

आत्मा तो सर्वत्र सदा ही, एक रूप में रहता है।
बिन जाने कोई भी उसको, ऐसा वैसा कहता है।।
पुण्य पाप अज्ञान बनाते, प्रत्यक् समही रहता है।
बिना क्लेश के क्लेश कुलिश के धात स्वप्न में सहता है।।
स्वयं को पलों में समझ लें, सुगम है।
अनिच्छा घनी है, तभी तो अगम है।।
अनिच्छा बुरी चाह ही पालती है।
बिना शूल के ही सदा सालती है।।
स्वयं को स्वयं क्यों नहीं चाहते हैं।
न जो चाहिये वह वृथा चाहते हैं।।
यही चाह तो राह बनती निरय की।
स्पृहा क्यों न पालें सुखों के निलय की।।
अहंकार सुविचार यह पूर्ण करलें।
अमृत से हृदय को अभी आप भर लें।।
न संसार होगा, न अविवेक होगा।
सदा चाहिये बस वही एक होगा।।